भूमिका

पीछे अवतरित होने पर भी जिन्हें प्रभु ने अपने आगे बढ़ा दिया, स्वयं पिता दशरथ ने जिन्हें राम की अपेक्षा धर्म से बलवत्तर माना और आदि कवि ने जिन्हें आकाश के समान निष्पङ्क अथवा निष्कलङ्क कहा, उन भरत का चरित, विभिन्न समय के कवि, अपनी भावना के अनुसार वर्णन करके अपने को ही नहीं, अपने समाज को भी कृतकृत्य करें तो यह स्वाभाविक ही है। डाक्टर बलदेवप्रसाद जी मिश्र ने "साकेत-सन्त" लिख कर ऐसा ही किया है। तुलसीदास जी ने यथार्थ ही कहा है, भरत का जन्म न होता तो कौन मुझ जैसों को राम के समीप पहुचाता।

मेरे लिए यह विश्लेपण का नहीं, आश्लेपण का विषय है। समालोचना अपना कर्त्तव्य पालन करेगी ही, मेरी श्रद्धा अपना सरल मार्ग क्यों छोड़े ? मैं मिश्र जी को प्रणाम करके उनके प्रत्यक्ष आशीर्वाद के समान इसे शिरोधार्य करता हूं।

मैथिलीशरण

चिरगाव

शरत्पूर्णिमा, २००३

कथानक

कथानक का आरम्भ होता है नवविवाहित भरत और माण्डवी के उस प्रेमालाप से, जो मामा युधाजित् के साथ केकय देश जाने के उपलक्ष में हुआ था। भरत माण्डवी की छटा हिमालय में देखना चाहते थे और माण्डवी स्वत. हिमालय को उनमें देखती थी। खैर, प्रस्थान हुआ और ये सब केकय पहुंचे। वहां वसत के मजुल प्रभात में भरत और युधाजित् मृगयार्थ हिमालय पर वढ़े। भरत पक्के लक्ष्य-भेदी थे अतः एक कस्तूरिका मृग को गिरा ही दिया। परन्तु उसकी करुणापूरित आंखें देख ये कातर हो उठे। युधाजित् ऐसा ही अवसर तो ताक रहे थे, झट ओजस्विनी वक्तृता झाड़ने लगे। वात यह थी कि कैकेयी जी दशरथ जी को इसी शर्त पर विवाह में दी गई थीं कि उनका जो औरस पुत्र हो वही गद्दी का उत्तराधिकारी घोपित किया जाय। राम के अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह घोपणा न कर सके थे। चारों कुमारों का विवाह भी हो गया, तव भी घोषणा न हुई। भरत और कैकेयी को भी अपने स्वत्वों की कोई चाह न थी। अतएव युधाजित् ने भरत को अपने साथ ले जाकर उन्हें 'जरा ठीक करने' की ठानी और इस वीच राम के युवराजत्व की घोषणा हो न जाय इसके लिए वे मथरा नामक चतुर दासी को अवध में छोड़ गये ताकि वह कैकेयी के हितों की रक्षा में जागरूक रहे। युधाजित् की वह 'फैसिज्म' समर्थिनी वक्तृता भरत के मन पर कोई असर न कर सकी। उन्होंने युधाजित् द्वारा कहे हुए प्रत्येक तत्व का उसी क्रम से खण्डन कर दिया और विपय की गम्भीरता को उड़ाते हुए प्रकृति-निरीक्षण के लिए उनका आह्वान किया। युधाजित् ने अप्रतिभ होकर मंथरा सवधी सकेत कर ही दिया। भरत झट भॉप गये कि

साकेत के राजमहलों में कोई षड्यन्त्र होने वाला है। वे अयोध्या पहुंचने को विह्वल हो उठे। कुछ दिन बाद वे स्वतः ही बुलाये गये। शीघ्र ही अयोध्या पहुंच कर उन्होंने देखा कि तीर तरकस से छूट चुका था। माँ के कुकृत्यों के प्रति उनका क्षोभ सहस्त्र धाराओं से फूट निकला। [१ से ३ सर्ग तक]

भांति-भांति के भावों के प्रवाह में बह चुकने के बाद उन्हें अपने कर्त्तव्य का स्पष्ट ज्ञान हो चुका। मन्त्रणागार में जहां की विचार-धारा यह थी कि 'भरत तो राजा हो ही चुके अब केवल छत्र-मुकुट सँभालने की व्यावहारिक रूढ़ि मात्र बाकी है, अतएव उनकी आज्ञा लेकर दशरथ के शव की दाह-क्रिया कर दी जावे'—उन्होंने अपने निर्णय पर अपनी अटलता दिखाई। मुसाहिब समझ न सके कि इस उक्ति पर वे उनका समर्थन करें अथवा विरोध। कैकेयी का डर जो था न! परन्तु कैकेयी ने जिस समय से भरत की उग्रता देखी थी उसी समय से वह बेचारी घबरा उठी थी कि कहीं उससे वर मांगने में धोखा तो नहीं हुआ! मथरा को पिटते देख कर भी वह तटस्थ ही रही और मंत्रणागार में भरत का अटल निर्णय सुन कर तो उसे निश्चय ही हो गया कि उससे भूल हो गई। अतः वह वहीं संज्ञाहीन हो गई। सँभलने पर उसने क्रियात्मक पश्चात्ताप किया। प्रथम तो वह दशरथ के पुनर्जीवन के लिए प्रयत्नशील हुई। जब उसमें सफलता न मिली तो स्वय उस शव के साथ सती होने को उद्यत हो गई। भरत ने वहां भी उसे रोका। [४ से ६ सर्ग तक] तदनन्तर उसने रामचंद्र जी को मना लेने की विफल चेष्टा की और जब वह न हो सका तब साकेत राज्य का पश्चिम नाका साध कर युधाजित् आदि को रामाभिमुख करने में संलग्न हो गई।

दशरथ के शव-दाह के अनन्तर भरत ने चित्रकूट की ओर रुख किया। साथ पुरजन, परिजन तथा सैनिकगण आदि भी तैयार हो गए। शहर की व्यवस्था जरूरी थी। इस व्यवस्था और सैनिकों के साथ ने

भांति-भांति की भ्रान्तियाँ उत्पन्न कीं। लोग समझने लगे कि भरत राजमद में आकर राम को समाप्त करने जा रहे हैं। पहिला मुकाविला अयोध्या के नागरिकों से हुआ, दूसरा शृंगवेरपुर के जगलियों से और तीसरा भरद्वाज आश्रम के तपस्वियों से। इन तीनों स्थानों मे भावों की दृष्टि से क्रमशः काम, क्रोध और लोभ की परिस्थिति, गुणों की दृष्टि से क्रमशः रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण की परिस्थिति तथा व्यवस्था की दृष्टि से क्रमशः क्षत्रिय राज्य (सामन्त साम्राज्यवाद) शूद्र राज्य (प्रजातन्त्रवाद) और ब्राह्मण राज्य (आध्यात्मिक समाजवाद) की परिस्थिति सामने आई। भरत तीनों परिस्थितियों में उत्तीर्ण हुए। उस भयंकर ग्रीष्मकालीन वनपथ में देश, काल और पात्र की विपरीतताओं के भी अड़गे आये। परन्तु ध्येयनिष्ठावान् जीव इन प्रतिकूलताओं की कब परवाह करता है। वह ध्येय मार्ग पर वढ़ता ही गया और अन्त मे उसने अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर ही लिया। भगवान् को भक्त के आगे झुकना ही पड़ा और उन्होंने आगे वढ़कर चित्रकूट के मध्यमार्ग मे ही अपने अनन्य भक्त को अपने गले लगाया। [७ से ११ सर्ग तक]

स्नेह तथा करुणा से भरे हुए उस सम्मेलन मे दिन पर दिन बीत चले लेकिन खुलकर बातें करने का अवसर ही न आया। जनक जी भी उपर्युक्त भ्रम के कारण वहां सदलवल पहुंच चुके थे। वे भी मौनावलम्बी हो गये। इसी बीच भरत ने अवसर ढूंढकर राम का हृदय टटोला। वे वापिस लौट चलने का सीधा प्रश्न छेड़कर न तो अपने आराध्य राम को असमंजस में डालना चाहते थे, और न उनसे नकारात्मक उत्तर पाने ही के लिए तैयार थे। इसलिए मानव जीवन के मर्म के साथ साथ प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष की बात उन्होंने पूछी। चतुर भरत जानते थे कि इस प्रश्न के उत्तर में भगवान के हृदय के भावी पथ का पता चल ही जावेगा। हुआ भी ऐसा ही, परन्तु वह हुआ भरत जी की एकान्त आकांक्षा के विपरीत। भरत मन मसोस कर रह गए परन्तु राम ने चतुरता-

पूर्वक उन्हीं उत्तर में यह बता दिया कि उन्हें चौदह वर्षों तक किस प्रकार का शासन-क्रम निभाना है—किस प्रकार के लोक-सेवा-व्रत में दीक्षित होना है। भगवान राम की कृपा से वन्य जातियों में जो अवस्था-परिवर्तन हो रहा था, भरत के मन पर उसका भी उस समय अनायास एक संस्कार पड़ गया जो आगे चलकर उनके निर्णय का सहायक ही सिद्ध हुआ [१२ वां सर्ग]

यद्यपि वे गर्मी के दिन थे तौभी सहसा रात को घोर आंधी-पानी का उत्पात हुआ जिसने प्रेरित किया कि प्रत्यावर्तन के सम्बन्ध का निर्णय शीघ्र ही कर दिया जाए। सभा जुड़ी और उसमें चार्वाक् पंथी जाबालि, कुटिकार महामुनि अत्रि और विदेह-राज जनक ने क्रमशः आनन्द, सत् और चित् को अन्तिम लक्ष्य मानते हुए अपने अपने ढंग के तर्कों से यही समझाया कि राम को वापिस लौट चलना चाहिए। राम ने स्वीकार कर लिया कि समूची परिषद् का जो एक आदेश होगा उसे वे श्रद्धा-पूर्वक मान लेंगे। परिषद् पर यह दायित्व आजाने से सब सदस्य गम्भीर विचार में पड़ गए। गुरु वशिष्ठ ने परिस्थिति संभाली और सब की ओर से यह "आदेश" सुनाया कि जो भरत कहें वही किया जावे। भरत के सिर भार आ ही पड़ा। हृदय की काफी उथल-पुथल के बाद उन्होंने राम की इच्छा के आगे अपने को अर्पण कर दिया और चौदह वर्षों के आधार के लिए चरण-पादुकाएं मांगीं। राम ने गद्गद् होकर उन्हें हृदय से लिपटा लिया। राम जीतकर भी हार चुके थे क्योंकि उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि राज्यभार उनका है और ठीक चौदह वर्षों बाद आकर वे उसे संभाल लेंगे। इस प्रकार चित्रकूट की उस कुटी पर समूचे भारत के एकीकरण और शासन-विधान, की रूपरेखा निर्मित हो गई। [१३ वां सर्ग]

भरत ने लौटकर ग्राम-सुधार को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। नन्दिग्राम में निवास कर अपने जीवन के चौदह वर्ष उन्होंने जिस कठोर

स्वतः-स्वीकृत व्रत के साथ विताए वह अन्यत्र सुलभ नहीं। रात्रि के शेष प्रहर में पादुका-पूजन, आत्मचिंतन आदि, तदनन्तर दिन के प्रथम प्रहर में पुरवासियों से उनके सुख-दुख, अभाव-अभियोग आदि के सम्बन्ध में वार्तालाप, द्वितीय प्रहर में सचिवों से परामर्श तथा शासन-विधान और राजस्व-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में उचित आदेश, तृतीय प्रहर में तपस्विनी माण्डवी द्वारा अंतःपुर विषयक अनुसंधान, भोजन तथा स्वल्प विश्राम, चतुर्थ प्रहर में स्थान स्थान पर जाकर विभिन्न विभागों की कार्य-परम्परा का अवलोकन और इस प्रकार समूचे शासन के सामूहिक समुत्थान का दिग्दर्शन, तदनन्तर रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वल्प व्यायाम, सन्ध्योपासन, गुरु-सत्सग तथा जगत् के वैभव की नश्वरता, जीवनतत्व, जीवन की क्रियाशीलता और जीवन के सामूहिक ध्येय सदृश विषयों पर विचार, द्वितीय प्रहर में गुप्तचरों की चर्चा और रात्रि के बचे हुए तृतीय प्रहर में भी अवयवों का क्रमिक ही विश्राम—यही भरत की अष्टयामचर्या थी। इसी तृतीय प्रहर मे वे घूम-घूमकर नगर-रक्षा प्रबन्ध भी देखा करते थे। इसी तीसरे प्रहर में उन्होंने हनूमान को भी सजीवनी के साथ उड़ते देखा था। उन्होंने समझा कि कोई राक्षस जा रहा है। इनके बाण से हनूमान जी गिर पड़े और इस प्रकार भरत जी को चित्रकूट के अनन्तर की राम-कथा सुनने का अवसर मिला। भगवान के सिद्धान्त किस प्रकार चरितार्थ हुए थे यह उस कथा में स्पष्टतया संकेतित था। परन्तु भरत तो सीता-हरण और लक्ष्मण-मूर्छा के हाल सुनकर विह्वल हो उठे थे। वे किंकर्तव्य-विमूढ़ से हो गए और योगबल द्वारा शीघ्र ही प्रभु के सहायतार्थ लका पहुंच जाने को उद्यत हुए। उसी समय वशिष्ठ ने आकर दिव्य-दृष्टि द्वारा उन्हें आसन्न भविष्य (जिसमें लंका पर विजय सन्निहित थी) दिखा दिया। भरत अपनी व्यग्रता पर लज्जित हुए और आत्मशुद्धि के लिए यह दृढ़ सकल्प किया कि वे अब केवल चौदह वर्षों तक ही नहीं वरन् आजीवन सच्चे सेवाव्रती रहेंगे।

[१४ वां सर्ग]

समय पूरा हुआ और भगवान अयोध्या लौटे। जो धरोहर इन्हें सौंपी गई थी उसे व्याज समेत परिवर्धित करके इन्होंने प्रभु के चरणों पर अर्पित कर दिया और स्वतः पराशांति के परम उपभोगी हुए। जन-जीवन-प्रेमी जीव के लिए इससे उत्तम आदर्श और क्या होगा? ससार उत्सव-कोलाहल में मग्न था और ये अपनी शक्तिस्वरूपिणी माण्डवी के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर रहे थे जिसका प्रथम प्रादुर्भाव प्रेमालाप के रूप में हुआ था। हिमालय अब उनके घर पर ही था। [उपसंहार]

उपक्रम

जो कुछ मनुष्य का मनुष्य का कहां है वह,
आंखें मुंदती हैं तो रहस्य खुल जाता है।
न्यास जो मिला है, उसकी समृद्धि ही के लिये,
नर निज आयु के बरस कुछ पाता है।
शान्ति तज क्रान्ति का बटोही बना विश्व जब,
तामसी तमिस्रा में विकल बिललाता है।
तब भावना में भारतीयता का भव्य रूप,
भर कर भारत भरत-गुण गाता है॥१॥

स्वामी एक राम हैं, उन्हीं का धाम विश्व यह;
जन में जनार्दन की ज्योति नित्य जागी है।
तीव्र अनुभूति इस भांति जिसकी है हुई,
नश्वर जगत में वही तो बड़भागी है।
जो नहीं यहां का हुआ होगा क्या वहां का वह;
रामहेतु लोक-अनुरागी महा त्यागी है।
भरत-प्रभाव से भरित पूर्ण हो जो जीव,
भोगी रह के भी वही योगी वही यागी है॥२॥

धन्य था कलङ्क निष्कलंक कर मानस को,
मानव का जिसने प्रकाश छिटकाया है।
धन्य था विरह वह जिसने मथे हृदय
और भव्य भक्ति का अमृत बिखराया है।
धन्य वह सन्त था कि रामहेतु राम से भी
दूर हट, राम के समीप रहा आया है।
धन्य वह तार भारती की मंजु वीन का था,
जिसके स्वरों ने हमें भरत दिलाया है ॥३॥

इस एक शब्द में हजारों रस रीतियां हैं,
इस एक शब्द ने करोड़ों व्यग्य पाये हैं।
इस एक शब्द के सहारे कोटि कोटि जीव,
लोक परलोक जीत राम में समाये हैं।
रसने ! समझले तुझे जो रस की हो चाह,
भक्त भगवन्त में कहाँ के भेद छाये हैं।
अभिराम भाव से जगाने जन-जीवन को,
मेरे जान राम ही भरत वन आये हैं ॥४॥

प्रथम सर्ग

विपुल वैभव-आकर साकेत,
और उसमें वह भूप-निकेत।
परम सुषमा का भी शुचि सार,
विलासों का था वर शृंगार ॥१॥

भरत का भवन वहां सुविशाल,
सभी ऋतुओं में सुखद रसाल।
विराजित था कर गगन-विहार,
धरा का एक उच्छ्वसित प्यार ॥२॥

हेम के कलश, घनों के मित्र;
रजत-आवृत थी भूमि पवित्र।
उभय के मध्य खेलता खेल,
विविध आकृतियों का वर मेल ॥३॥

सजे जिसमें असख्य से स्तंभ,
चमत्कृतिमय समग्र आरंभ।
जालियों के मायामय जाल,
फंसाते मानस मंजु मराल ॥४॥

भीति के चित्र सजीव समान,
दे रहे थे नव-जीवन दान।
रत्नमय विहग यन्त्र-से बोल,
रहे थे मानव-हृदय टटोल ॥५॥

विपुल रत्नों का वह आनन्द,
वहीं थे सूर्य वहीं थे चन्द।
सदागति था यद्यपि निर्बन्ध,
सदा पर शीतल मंद सुगध ॥६॥

उसी में थे मनोज्ञ उद्यान,
उसी मे थे निर्झर छविवान।
वहीं पर उतरा था वह स्वर्ग,
जहां दृग का प्रतिपद अपवर्ग ॥७॥

हो चुका था कुंवरों का ब्याह,
भर उठा था घर घर उत्साह।
भरत के घर की फिर क्या बात,
नित्य नूतन-सा जिसका गात ॥८॥

नया परिणय था नई उमंग,
माण्डवी का था नूतन संग।
नित्य नव रग, नित्य नव तान,
नित्य उत्सव के नये विधान ॥९॥

उसी में एक दिवस सविलास,
निशागम पर भरकर उल्लास।
किये झंकृत वीणा के तार,
भरत ने छेड़ा राग मलार ॥१०॥

रत्न उत्खचित मंच का मोर,
बना जीवित-सा भाव-विभोर।
भरत के चरणों पर चुपचाप,
हुआ न्योछावर अपने आप ॥११॥

वढ़ी स्वर की लहरी इस तौर,
उठे रस के बादल सब ठौर।
उसी क्षण क्षणदा सी अभिराम,
माण्डवी पहुंचीं वहा ललाम ॥१२॥

प्रिया के आते ही तत्काल,
वशियां सौ-सौ वजीं रसाल।
हज़ारों दीप हुए अनुकूल,
करोड़ों महक उठे शुचि फूल ॥१३॥

भरत खिल उठे, वढ़ उठे हाथ,
कहा, "लो। जीवित-वीणा साथ।
मिले फिर से रति और अनग,
सजे फिर घन विद्युत् का सग ॥१४॥"

तनिक रुक गईं माण्डवी आप,
"इसे आलाप कहूं कि प्रलाप ?"
अधर पर एक मधुर मुस्कान,
लोल-सी लहरा गई अजान ॥१५॥

"सुनाये सुसंवाद जो आप,
न वह आलाप और न प्रलाप।
प्रिये। अब देखो केकय देश,
जहां छिटका हिमहास विशेष ॥१६॥

खगों के सुनना कल-आलाप,
मृगों के गुनना रुचिर-प्रलाप।
और आलाप प्रलापों युक्त,
देखना अचल छटा उन्मुक्त ॥१७॥

पिता से मिल ही गया निदेश;
जीत मामा की हुई विशेष।
हिमालय-दर्शन की अब चाह—
पूर्ण हो; देगी प्रमुद अथाह ॥१८॥

नया आखेट, नये संगीत;
नये भूभाग; सुरम्य पुनीत।
नये होंगे अपने अभिसार.
नया नवदम्पति का संसार ॥१९॥

हरे उपवन-कुञ्जों की गोद;
प्रकृति का प्रेमपूर्ण आमोद।
लुटाते चांदी सोना नित्य.
जहां पर चंद्र और आदित्य ॥२०॥

हृदय-आह्लाद शान्ति के धाम,
दृश्य वे स्वर्गाधिक अभिराम।
नित्य देंगे नवीन ही स्फूर्ति;
भरेंगे जीवन में नव पूर्ति ॥२१॥"

"कुलवधू कब रहती स्वच्छंद;
उसे बस अपना भवन पसंद।
आपके रहें अचल सुखसाज;
उसे प्रिय अपना स्वजन-समाज ॥२२॥"

"क्या कहूं भैया भाभी हेतु,
न राज़ी हुए भानु-कुल-केतु।
मिलेंगे उनको अवसर अन्य,
अभी तो मैं ही केवल धन्य ॥२३॥

न, पर, केवल 'मेरे' सुख साज,
'हमारे' हैं अब वे सुख साज।
जहां पर थी 'मदीय' की छाप,
वहां है 'अस्मदीय' अब आप ॥२४॥

प्रिये! क्या हम तुम अब भी अन्य?
देह दो हों पर प्राण अनन्य।
बढ़ा यदि आगे आधा अंग,
चलेगा क्या न दूसरा संग ॥२५॥

रणस्थल तक में देकर साथ,
बटाया रमणीगण ने हाथ।
न हो विश्वास कहेंगी अम्ब,
पिता को दिया न क्या अवलम्ब ॥२६॥

यही क्यों, प्रिये! तुम्हारा स्थान,
मुझे अब है यों महिमावान—
तुम्हारी इस छवि पर है मात,
हिमालय का महिमामय गात ॥२७॥

उभय अन्योन्य-अभिमुखी देख,
नयन ये तारतम्य लें लेख।
इसी से चलो कि गिरि-श्रृंगार—
संवर ले लखकर यह आकार ॥२८॥

तुम्हारे चरणों की ले चाल,
चलें अब उस पर बाल मराल।
तुम्हारे लख ऊरू अभिराम,
कलभ का भूल जायं सब नाम ॥२९॥

कृशोदरि ! इस त्रिवली का जाल,
कहां लहरायेगा हिमताल ।
हृदय की गौरवपूर्ण उमंग,
देख उत्तुंग शृंग हो दंग ॥३०॥

लता, पल्लव-पुष्पों के साथ,
निरख कर हाथ, मले निज हाथ ।
और मुख ? उसके सम हो कौन,
सुधाकर इसीलिए है मौन ॥३१॥

कहीं जो खिली अधर मुस्कान,
पिघल जायेंगे हिम पाषाण ।
उठेगी जिधर दृगों की कोर,
उधर बरसेगा रस घनघोर ॥३२॥

तुम्हारा लखकर केश-कलाप,
अचल उर पर लोटेंगे सांप ।
घिरेंगे घन समीप घन दूर,
नचाकर शत शत मत्त मयूर ॥३३॥

तुम्हारा सुनकर मधुरालाप,
कोकिलायें जायेंगी कांप ।
तुम्हारी गति का देख विलास,
लहरियां तजें लास्य उल्लास ॥३४॥

तुम्हारी छटा अचल के पास,
विलोकूंगा मैं सहित हुलास ।"
"और मैं ? तुममे ही सुखधाम,
विलोकूंगी सुमेरु अभिराम ॥३५॥

अचल श्रद्धा पर जिनका स्थान,
कौन जड़ उनका हो उपमान।
तुम्हारी स्थिति में गिरि का स्थैर्य,
तुम्हारी गति में निर्झर—धैर्य ॥३६॥

तुम्हारे चरणों पर वलिहार,
रत्नगर्भा का सव शृंगार।
देख कटि, कंधर, वक्ष विशाल,
कौन पूछे वन-पशु के हाल ॥३७॥

हृदय यह जैसा शिव-अधिवास,
कहां होगा वैसा कैलास।
फलें फैलें ये वाहु विशाल,
करेंगे क्या कमाल वे शाल ॥३८॥

तुम्हारे मुख पर जो गुरु भाव,
कहां हिमगिरि में जमा जमाव।
तुम्हारे नयनों में जो ओज,
व्यर्थ रत्नों में उसकी खोज ॥३९॥

तुम्हारा सुनकर स्वर गम्भीर,
प्रतिध्वनि भागेगी नभ चीर।
तुम्हीं हो भारत रूप ललाम,
तुम्हीं से है जगमग हृद्धाम ॥४०॥"

"रहे जड़ या चेतन छविवान,
वना केवल भारत उपमान!
न क्यों फिर मै रचकर विस्तार,
तुम्हें कह दूं अवनी का प्यार ॥४१॥

प्रिये ! तुम अवनी की न उमंग,
तुम्ही से रंगिणि ! नभ के रंग।
उषा तुम हो; तुम तारक-गीत,
तुम्हीं नन्दन की सुरभि पुनीत ॥४२॥

कौन कहता है तुम हो एक,
एक होकर भी बनी अनेक।
तुम्हारी ही छवि का विस्तार,
विश्व में देखूंगा साकार ॥४३॥"

"और मैं ? तुम्हें हृदय में थाप,
बनूंगी अर्घ्य आरती आप।
विश्व की सारी कांति समेट,
करूंगी एक तुम्हारी भेंट ॥४४॥

पुरुष-मन में छवि का विस्तार,
नारि-मन में संकोच अपार।
पुरुष का हो अनन्त पर चाव,
नारि का एक कान्त पर भाव ॥४५॥"

"मनुज की मधुप वृत्ति पर चोट,
लगाई, खूब व्यंग की ओट।
किन्तु क्या प्रिये ! नहीं यह ज्ञान,
तुम्हीं अब इन प्राणों की तान। ॥४६॥"

"तान मैं हूं, मैं जीवित बीन,
अहा, उपमायें मधुर नवीन।
न शब्दों में हो यों अनुराग,
संत दिखलाया करते त्याग ॥४७॥"

"इष्ट हो सतों को तप त्याग,
चाहिये मुझे एक अनुराग।
शब्द की माया बुरी बलाय,
सुखी जीवन सुख से निभ जाय ॥४८॥

हटाओ तपस्त्याग की बात,
भर उठे अतुल प्रमुद से रात।
सजाओ नृत्य, सजाओ गीत,
कि जिससे जाग उठे सगीत ॥४९॥"

"यही हो" कहा प्रिया ने, और—
जुड़ा झट दासी-दल उस ठौर।
मृदंगों की ध्वनि से सुकुमार,
सरस सगीत हुआ साकार ॥५०॥

भवन ही नहीं, गगन तक व्याप—
गई स्वरलहरी की वह थाप।
थिरकने लगे चंद्र नक्षत्र,
हुए लयमय सब ही सर्वत्र ॥५१॥

परा सीमा को पहुंचा मोद,
भरी ही रही सुखों की गोद।
गई बातों बातों में रात,
छिटकने लगा नवीन प्रभात ॥५२॥

"शेष फिर" बोले भरत सुजान,
आज ही करना है प्रस्थान।
किन्तु वह "शेष" रहा बस शेष,
न फिर आया उस "फिर" का लेश ॥५३॥

भवन के वैभव ने सुख मान,
भरत के साथ किया प्रस्थान।
भरत तो फिरे किन्तु वह शान,
हुई सब दिन को अन्तर्धान ॥५४॥

छिड़ा था पतझड़ में जो राग,
दे गया वह मलार बस आग।
घिरे रस के घन कुछ ही देर,
शेष था किन्तु वज्र का ढेर ॥५५॥

वह जब होगा तब होगा पर,
अभी भरत तो सहित उमंग,
चले मुदित हो और चले,
शत्रुघ्न, माण्डवी आदिक संग।
नैसर्गिक कृत्रिम शोभाएं,
बहुविध पथ की करके पार,
पहुंचे वे हिमगिरि के प्रहरी,
केकय राज-भवन के द्वार ॥५६॥

शुभागमन लख भरत का, उमगी हर्ष हिलोर।
नव जीवन जो भर गई, उस पुर में सब ओर ॥५७॥

नाना नानी का प्रेम भाव,
मामा मामी का रुचिर चाव।
भृत्यों की चहल-पहल बांकी,
पुर-नर-नारीगण का जमाव॥
थे अर्घ्य आरती साज कहीं,
बिखरे कुसुमाक्षत लाज कहीं।

उमड़े स्वागत के हित सत्वर,
तूर्यस्वन नृत्य समाज कहीं ॥५८॥

अमरालय से बढ़कर सुखमय,
नृप-मंदिर एक विशाल जहां।
रच दिया गया रघु-पुत्रों का,
अनुपम आवास रसाल वहां॥
नयनों के हित शृंगार जहां,
देती थीं हिमगिरि-मालायें।
गाती थीं स्वागत-गान सदा,
खग-कण्ठों से सुरबालाएं॥५९॥

माण्डवी भरत दोनों ने,
छककर दृग-निधियां पाईं।
दृग-निधियां ही न रहीं जो,
जागृति भी नूतन लाईं॥६०॥

द्वितीय सर्ग

जीवन की नूतन रेखा,
जाग्रत हो जग मे आई।
जब जरा उनींदी होकर,
रजनी ने ली अंगड़ाई ॥१॥

दिग्बाला के गालों पर,
लज्जा के भाव निहारे।
होकर विभोर मस्ती में,
मुंद चले गगन-दृग-तारे ॥२॥

क्रम-क्रम से शिखर-शिखर पर,
चित्रित सी आभा छाई।
स्वर्गिक-श्री नभ तज, भू पर,
क्रीड़ा कौतुक वश आई ॥३॥

संगीत साज खग-कुल ने,
विरचे डालों डालों पर।
नाचने लगीं लतिकायें,
मारुत की लघु तालों पर ॥४॥

अनुराग—रंगे से दिन-मणि,
आये बरसाते सोना।
चेतन सा जगमग जागा,
हिमगिरि का कोना कोना ॥५॥

खिल पड़ीं मखमली फर्शें,
खिल पड़े लदे से गहने।
खिल पड़े लताद्रुम हंसते,
रग-रंग के गहने पहने ॥६॥

देखा सबने, उत्सुक द्रुम,
फूलों के दल बगराये।
स्वागत को तत्पर से थे,
पथ पर पांवड़े बिछाये ॥७॥

कोकिल के कल कण्ठों से,
निर्झर दरियों के द्वारा।
होती थी ध्वनित प्रतिध्वनि,
'स्वागत हे भरत ! तुम्हारा' ॥८॥

उस समय रुचिर घोड़ों पर,
मृगया के साज सजाये।
उत्साही भरत युधाजित्,
हिमगिरि अंचल पर आये ॥९॥

वह अश्व अश्वपति वाला,
पथ से पथ पर यों आया।
आरोही ने शिविका का,
आनन्द पीठ पर पाया ॥१०॥

कानों में ऊर्जस्वलता,
पैरों में विद्युत् धन था।
थी पूंछ चंवर सी सुन्दर,
घोड़ा क्या, सिहासन था ॥११॥

क्षण में स्थिर क्षण में चचल,
मन की गति सा वह घोड़ा।
हो गया हवा सा सहसा,
संकेत मिला जब थोड़ा ॥१२॥

केशिल कस्तूरी मृग की
कुछ आभा पड़ी दिखाई।
उड़ चला भरत का वाहन,
उसने यों दौड़ लगाई ॥१३॥

छूटा शर यद्यपि पहिले,
पहुंचा पर पहिले घोड़ा।
आरोही ने जव देखा,
घायल था हरिण भगोड़ा ॥१४॥

कुछ ऐसी कातरता थी,
मृग की आंखों में व्यापी।
शुद्धात्मा भरत कुवर की,
करुणा पूरित हो कांपी ॥१५॥

केकय कुमार थे पीछे,
उनने यह भाव निहारा।
मन की वातें कहने का,
मनमाना मिला सहारा ॥१६॥

"साकेत-कुवर। क्यों, क्या है, ?
किसलिये उदासी छाई।
खुश होओ पूर्ण सफलता,
मृगया मे तुमने पाई ॥१७॥

"हत्या में कौन सफलता ?
हत्या इस पावन थल में।
बह गई चाह मृगया की,
मृग की आंखों के जल में ॥१८॥"

"पशु पर यह कैसी करुणा ?
करुणा तो दुर्बलता है।
निष्ठुर निर्मम क्षत्रिय हो,
क्या इसका नहीं पता है ? १९॥

पशु तो पशु हैं इनका क्या,
तुम हो अति-मानव ऊंचे।
उपभोग्य तुम्हारे ही हैं,
जड़ चेतन द्रव्य समूचे ॥२०॥

तापस हों क्षमा-परायण,
तुम हो तेजस्वी शासक।
दुर्बल के बलिदानों पर,
जीवित है शक्ति-उपासक ॥२१॥

वे मरें यहां, जिनको है
दासत्व भाव में मरना।
है जन्म-सिद्ध तुमको तो
प्रभु बनकर शासन करना ॥२२॥

है दण्ड धर्म की प्रतिमा,
उसके हो तुम्हीं प्रणेता।
करुणा को दण्डित कर ले,
वह ही है विश्व-विजेता ॥२३॥

शासक वह क्या, जिसका भय
त्रिभुवन में कम्प न भरदे।
जिसके नयनों की ज्वाला,
आतंकित जगत् न करदे ॥२४॥

शासक है निष्ठुर माली,
काटे छाटे मनमाना।
संघर्ष-भरा है उसके
कृतिपट का ताना बाना ॥२५॥

संघर्ष जगत का अथ है,
संघर्ष जगत की इति है।
संघर्ष केन्द्र पर निर्भर,
अपनी उन्नति की स्थिति है ॥२६॥

निष्ठुरता सिखलाने को,
मृगया के दाँव दिखाये।
संघर्ष भरे, हम सबको
विभु ही ने पाठ पढ़ाये ॥२७॥

शोषण का नय तुम सीखो,
पोषण अपना तब होगा।
यदि उर कोमल कर लोगे,
उत्कर्ष कहां कब होगा? २८॥

क्षुद्रों की बलि-वेदी पर,
पनपी है सदा महत्ता।
निर्धन कुटियों को ढाकर,
विकसी महलों की सत्ता ॥२९॥

औरों को कुचल कुचलकर,
जब अपना पथ गढ़ता है।
तब ही इस जीवन-रण में,
सौभाग्य-चक्र बढ़ता है ॥३०॥

है मत्स्य-न्याय ही जग में,
लघु को महान खा जाते।
जो हैं अदम्य औरों के,
बस, वे ही हैं रह पाते ॥३१॥

है वीर-भोग्य यह अवनी,
वे सहज ईश सब धन के।
सिंहासन है उन ही का,
जो रहे न दुर्बल मन के ॥३२॥

जो है सत्ता का स्वामी,
जग साथ उसी का देगा।
जिसके हाथों है लाठी,
वह भैंस हांक ही लेगा ॥३३॥

विधि ने निज हाथों विरचा,
यह उच्च-नीच का स्तर है।
समता की पूंछ कहां है,
वैषम्य जगत् का स्वर है ॥३४॥

जो विविध काम के पूरक—
अर्थों का संग्रह करता।
इस जग में धर्म वही है,
जो कुछ वह है आचरता ॥३५॥

जब बूढ़े होना तब तुम
सोचना मोक्ष की बातें।
हे युवक! अभी तो सीखो,
बस, अर्थ काम की घातें ॥३६॥

तज दया मया की बातें,
तोड़ो करुणा से नाता।
तुम बनो प्रचंड धरा पर,
तुम अपने भाग्य-विधाता ॥३७॥

तुम राजवंश के नरवर,
तुम राजमुकुट-अधिकारी।
तुम अपना रूप सँभालो,
हो सिद्ध शक्ति-अवतारी ॥३८॥"

केकय-कुमार के स्वर में
थी वह ओजस्वी धारा।
प्रत्येक वाक्य था उनका,
प्रज्ज्वलित एक अगारा ॥३९॥

निःस्तब्ध हुए क्षण भर को,
गंभीर भरत उस थल में।
फिर बोले मधुर गिरा से,
भरते मंगल जंगल में ॥४०॥

"मामा! ये कैसी बातें।
अवसर ही इनका क्या है?
मुझको तो तर्क तुम्हारा,
अद्भुत-सा आज जंचा है ॥४१॥

पशु क्या न सजीव हमी से?
पशु क्या न दया - अधिकारी?
करुणा का बल अतुलित है,
क्षत्रियता जिस पर वारी ॥४२॥

अति - मानवता कब अटकी,
जग के नश्वर भोगों में।
मानव पशु ही होता है,
पाशव-सुख के योगों में ॥४३॥

शासक है सच्चा तापस,
जग-रक्षा तप का फल है।
वह शक्ति शक्ति ही कैसी,
दुर्बल-बलि जिसका बल है ॥४४॥

है कौन दास या स्वामी,
प्रभुता का यह सब भ्रम है।
वह जन्मसिद्ध ही कैसे,
जिसमें कर्मों का क्रम है ॥४५॥

यदि धर्म दण्ड तक सीमित,
तो वह दण्डित निश्चय है।
करुणा फिर दुर्बलता क्यों,
करुणा-जय यदि जग-जय है ॥४६॥

शासक, वह क्या शासक है,
जो केवल भय उपजाये—
जिसके नयनों की ज्वाला,
सुहृदों को शत्रु 'बनाये !! ४७॥

निष्ठुर माली भी रहता;
संघर्षशील कब हरदम ?
दिन स्वतः शान्ति के आते,
आता है जब फल का क्रम ॥४८॥

संघर्ष न सार जगत का;
श्रम सीढ़ी मात्र भवन की ।
है पराशान्ति परमोन्नति;
जिस पर रहती स्थिति मन की ॥४९॥

निष्ठुर ही यदि होना है;
मृगया की यदि अभिलाषा ।
मारे नर अपनी पशुता,
बांधे नर अपनी आशा ॥५०॥

शोषण यदि पापों का हो;
पोषण अपना तब होगा ।
शोषण यदि जीवों का हो;
उत्कर्ष कहां कब होगा ? ५१॥

निर्धन की कुटियां ढाकर;
जो अपना महल बनाते ।
आहों की फूंकों से ही;
वे एक दिवस उड़ जाते॥५२॥

जिसने कुचला औरों को;
उसने ही चक्कर खाया ।
जो ऊपर आज उठा है;
वह कल गिरकर पछताया ॥५३॥

यदि मत्स्यन्याय ही जग में,
अधिपति एकाकी होता।
शफरी के लिये तरसता,
प्रत्येक सलिल का सोता ॥५४॥

मन की यह नहीं सबलता,
सिंहासन पर जा टूटे।
वह कौन वीर है, जग में
धनधाम न जिससे छूटे ॥५५॥

देखे हैं लाठी वाले,
भैसों पर ताक लगाये।
भैंसे तो भैंसे ही हैं,
लाठी तक थाम न पाये ॥५६॥

ये उच्च-नीच की लहरें,
वैषम्य अवश्य दिखातीं।
सागर के जल की समता,
क्या, किन्तु छिपा वे पातीं? ५७॥

कब शान्ति किसे मिल पाई,
कामार्थ धर्म के भ्रम में?
सुस्थिर है लोक-व्यवस्था,
धर्मार्थ काम के क्रम में ॥५८॥

सीखे, जो राजा होगा,
वह अर्थ काम की घातें।
हैं राम-कृपा से, अपने
सुख के दिन, सुख की रातें ॥५६॥

किसको प्रचण्ड होता है,
है किसे भाग्य की माया?
है यह सुने तो अपना,
दुःख मंगल संभलाया ॥६०॥

यह सिद्ध नहीं है, हूं मैं
या नहीं शक्ति-अवतारी;
है किन्तु सिद्ध यह निश्चय,
कल्पना है कहीं न हारी ॥६१॥

ऐसा सुहावना वन है,
मधु ऋतु की ऐसी वेला।
देखिये प्रशान्ति यहां की;
छोड़िये विगत झमेला ॥६२॥

लतिकायें लगतीं मानों
कलियां थिरक रहीं हों।
द्रुम देख यहां दिखता है,
नन्दन-द्रुम यहीं कहीं हों ॥६३॥

रङ्गों की विचित्र झांकी,
सुमनों में झलक रही है।
अपनी निज रङ्ग की सुषमा
अम्बर पर आंक रही है ॥६४॥

प्रति दल पर इन्द्रधनुष की,
है रंगरंगीली माया।
मालूम होती है जिसकी,
नयनों में अंजन आया ॥६५॥

झरझर झरझर के स्वर में,
झरझर झरती छवि – धारा।
जिसका कण – कण मोती है,
जिन पर है हीरक हारा ॥६६॥

गिरि पर प्रकाश है राजा;
गह्वर में श्यामा रानी।
दोनों ने आख – मिचौनी,
कितनी मनमोहक ठानी ॥६७॥

मादक मधु से भर – भर कर,
फूलों की प्याली प्याली।
इतराती है मस्ती में,
वासती वैभवशाली ॥६८॥

कुसुमाञ्जलियों से बिखरे—
सौरभ मे करता खेला।
जन – मन थिरकाता मारुत;
है थिरक रहा अलबेला ॥६६॥

विहँगों की मधुर ध्वनि से,
मुखरित है गिरि की दरियां।
मूर्च्छना श्रवण कर जिसकी,
मूर्छित वीणा वंसरियां ॥७०॥

सुंदर छवियां श्रुतियां बन;
सगीत अनूपम छातीं।
सुन्दर ध्वनियां छवियां बन,
मानो; दृग-सन्मुख आतीं ॥७१॥

दर्शक के मन उलझाकर,
सुलझाती हृदय – व्यथायें।
है प्रकृति चाहती, आकर,
सत्पुरुष यही रम जायें ॥७२॥'

"सत्पुरुष ? का-पुरुष ? यह क्या;
बातें न हँसी में टालो।
तुमको राजा होना है,
अपने को भरत ! सँभालो ॥७३॥

रघुपति से यह प्रण लेकर,
कैकेयी हमने दी है।
तुम समझो, युवा हुए हो,
अब बालक बुद्धि नहीं है ॥७४॥

है धन्य मंथरा ही वह,
यद्यपि दासों की दारा।
जो समझ गई सब बातें,
पाकर, बस, एक इशारा ॥७५॥"

हो गये भरत मर्माहत,
सुनकर अद्भुत ये बातें।
दिखने – सी लगीं उन्हें कुछ,
षड्यन्त्र सरीखी घातें ॥७६॥

चक्कर – सा उर पर छाया,
घोड़ा घर को लौटाया।
दोनों थे मौन, न मुख पर,
कुछ शब्द किसी के आया ॥७७॥

उसी रात दुःस्वप्न भयङ्कर,
दिखे भरत को विविध प्रकार।
"लौट चलें साकेत" यही वे,
मन में करते रहे विचार।
अवध-दूत पहुंचे कुछ दिन में,
लेकर मुनिवर का सदेश।
शीघ्र विदा ली और चल पड़े,
भरत तुरत ही अपने देश ॥७८॥

मन की गति ही से,
लिये उन्होंने घोड़े।
पीछे ही अपने; अन्य
सभी रथ छोड़े।
चिन्तित इतने थे,
लखा न पीछे आगे।
दूतों को लेकर,
पवन - वेग से भागे ॥७९॥

तृतीय सर्ग

बिजली-सा उनका यान तड़पता आया,
कुछ चेतन से होगये अवध जब पाया।
देखी उनने सब ओर कठोर उदासी,
तकते थे उनको मौन, अवध के वासी ॥१॥

इसने देखा, मुख फेर लिया अनखाकर;
उसने देखा, की प्रणति बहुत घबराकर।
कुछ ने सादर पथ दिया, ज़रा बढ़ आगे,
कुछ निज-निज घर को राह नापते भागे ॥२॥

सड़कें सिंचन से हीन, वृक्ष अनफूले,
थे विहग वृंद सब मौन, काकली भूले।
आलय थे तोरण-हीन, केतु थे ढीले,
थे उज्ज्वल नीले लाल पड़े वे पीले ॥३॥

तुरही की ध्वनि उड़ गई, गया सब पहरा,
अभिनव विषाद था राज महल पर गहरा।
दूतों ने था जो मौन अनूठा साधा,
वह व्यापा था सब ओर बिना कुछ बाधा ॥४॥

भयभीत भरत आगए महल में मां के,
देखे अटपट ही हाल कराल वहां के।
कोई दासी रो उठी, हँसी झट कोई,
लाई पांवर के लिये पीत पट कोई ॥५॥

सुनते ही पहुंची वहां कैकई रानी,
आरती उतारी, दिया अर्घ्य का पानी।
हँस-हँस कर लिपटा लिया, प्रेम से बोली,
"देवों ने दिया प्रसाद, सभालो झोली ॥६॥"

अटपट वाणी का अर्थ भरत क्या बूझे,
विह्वल हो पूछे प्रश्न वही जो सूझे।
"मां, कहां पिता हैं, कहां राम सुखदाई,
क्यों आज उदासी अवधपुरी में छाई ॥७॥"

"मै सभी कहूगी तात। जरा थम जाओ,
आओ सुख से सुखधाम। न कष्ट उठाओ।
तुम आये लेकर भाग्य, तुम्हारी जय हो,
तुम अमर पिता के अमर पुत्र निर्भय हो ॥८॥"

"मां। शीघ्र बताओ कहां पिता हैं मेरे ?"
"बेटा! उनको रुच गये अमर-पुर डेरे।"
"हा। हा।" कर भरत तुरंत गिरे अवनीतल,
गिरता है खाकर वज्र जिस तरह पीपल ॥९॥

फिर धीरज धरकर उठे, उसांसे लेकर,
वोले "माता। हैं कहां राम भ्रातावर;
जो केवल भैया रहे बाप वे अब हैं,
स्वामी, राजा, सर्वस्व, आप वे अब हैं ॥१०॥"

मां बोली "बेटा। वहुत न विह्वल होओ,
कर लो थोड़ा विश्राम, मार्ग–श्रम खोओ।
वस इतना सुन लो अभी, हुए तुम राजा,"
था वाक्य कि वह था सर्प-दंश सा ताजा ॥११॥

चौंके रामानुज, तड़प उठे, घबराये,
स्मृति ने केकय-सुत-व्यंग पुनः दुहराये।
आंधी सी उठी प्रचण्ड, अंधेरा छाया,
उनकी जिह्वा से वचन यही कह आया॥१२॥

"श्री राम कहां हैं शीघ्र मुझे बतलाओ,
सचसच सब कह दो, अधिक न और छिपाओ।
तुम चुप हो ? अच्छा, स्वयं ढूंढ मैं लूंगा,
जब तक न देख लूं उन्हें, न शान्त रहूंगा॥१३॥"

गमनोद्यत लखकर उन्हें विकल मां बोली,
"वन गये राम, तज सुहृदगणों की टोली।
चौदह वर्षों के लिये अयोध्या छोड़ी,
चौदह वर्षों की बात, अवधि है थोड़ी॥१४॥

है मनुजों का वर ध्येय इंद्रपद पाना,
इन्द्रत्व मही-साम्राज्य सभी ने माना।
वह राज्य तुम्हें मिल जाय इसी इच्छा से,
मैंने दो वर ले लिये भूप से खासे॥१५॥

वे तुमको रखकर दूर, मुझे न बताकर,
युवराज राम को बना रहे थे सत्वर।
मन्थरा सहायक हुई मार्ग बतलाया,
बनवास राम ने, राज्य तुम्हीं ने पाया॥१६॥

मैथिली राम के संग गई, लक्ष्मण भी,
जिनको जाना था गए, न ठहरे क्षण भी।
पर खेद यही है राम-विरह में व्याकुल,
सहसा नृप स्वर्ग सिधार गये शोकाकुल॥१७॥"

प्रत्येक वाक्य था महा-प्रलय का भाई,
प्रत्येक शब्द में काल-कूटता छाई।
प्रत्यक्षर वृश्चिक-दंश सदृश दाहक था,
संवाद था कि वह भरत-प्राण-गाहक था ॥१८॥

झंझा से कांपे, धधक उठे दावा से,
क्षण भर में रुककर अचल हुए ग्रावा से।
मस्तक पर सौ-सौ गिरीं बिजलियां आकर,
गिर पड़े भूमि पर भरत सुचेत गंवाकर ॥१९॥

दौड़ी पंखे ले कई, कई ले पानी,
पहुंचाया उनको जहां सेज सुखदानी।
पर ज्यों ही कुछ-कुछ भरत-चेतना जागी,
झटपट उनने उपचार-भूमि वह त्यागी ॥२०॥

गरजे, बरसाते हुए विपुल अंगारे,
पापिनियो! तुमने अवध-प्राण संहारे।
संहार, घोर संहार, हुआ क्या थोड़ा,
नृप, कुल, यश, सब खा गई न कुछ भी छोड़ा ॥२१॥

धिक्-धिक् केकय की भूमि कुचक्रों वाली,
जिसने मथरा समान नागिनी पाली।
मां? कहूं मानवी या कि दानवी नारी,
डाकिनि ने दुर्धर मूठ अवध पर मारी ॥२२॥

कब देखा मेरा राज्य-लोभ इस मां ने,
जो किया राम पर कुटिल क्षोभ इस मां ने।
मुझसे निरीह को केन्द्र कराल बनाया,
क्षण में पापों का विषम जाल रचवाया ॥२३॥

जो थे मेरे आराध्य, हुए वनवासी,
जिनको होना था भूप, हुए सन्यासी।
भारत का स्वामी फिरे ठोकरें खाता,
सबल आश्रय से हीन रहे जग-त्राता ॥ २४॥

आर्या सीता जो सदा सुखों में पाली,
करती थी जिन्हें सभीत सुचित्र-वनाली।
कांटों पर अब वे चलें शिला पर सोयें,
उनके कुभाग्य पर घाव उन्हीं के रोयें ॥ २५॥

लक्ष्मण वह जिसने एक राम को जाना,
छल-छन्द न देखा कभी न दुख पहचाना।
साकेत-सुखों को त्याग हुआ वन-चारी,
फिर भी इस मां की पड़ी रही मति मारी !! २६॥

समझा इसने मैं राज मुदित हो लूंगा,
डाकू हूं; अग्रज-भाग सुचित हो लूंगा।
मर गये विचारे पिता विरह के दुख से;
यह आस भरी ही सांस ले रही सुख से ॥ २७॥

किस मुख से कह दूं इसे कि मेरी मा है,
यह घोर राक्षसी-निशा कठोर अमा है।
चौदह वर्षों तक अवध अनाथ बनाया,
चौदह भुवनों मे कुयश अंधेरा छाया ॥२८॥

मैं और राम थे युगल नयन से जिसके,
मुझसे बढ़कर श्रीराम सुवन थे जिसके।
वात्सल्यमयी-सी गई कहां वह माता,
इस आकृति मे हूं मूर्त कुटिलता पाता ॥२६॥

क्षण-भंगुर विभव विलास राज के सारे,
उनके हित जिसने सुयश पुंज संहारे।
भैया को कानन भेज पिता को मारा,
कैसे कह दूं वह आर्य-वंश की दारा ॥३०॥

है मूर्तिमन्त अभिशाप यहां इस घर में,
क्षण भर भी रहना पाप यहां इस घर में।
जब रहना था तब रहा न क्यों मैं हा ! हा !
होगया सभी तो पलक मारते स्वाहा ॥३१॥

अब तू ही राख बटोर, भरत यह जाता"
सुनकर अति विह्वल हुई भरत की माता।
बोली "क्या सच ही भूल होगई मुझसे,
मेरी ही मति प्रतिकूल होगई मुझसे ॥३२॥

तेरे हित मैंने हृदय कठोर बनाया,
तेरे हित मैंने राम विपिन भिजवाया।
तेरे हित मैं हूं बनी कलंकिनि नारी,
तेरे हित समझी गई महा हत्यारी ॥३३॥

अब तू ही मुझको कोस रहा है ऐसे,
तू इतना घोर कठोर होगया कैसे।
जग में सब ही हैं स्वार्थ साधते आये,
मैं भी उनके पथ चली और वर पाये ॥३४॥

क्या वे वर तुझे न रुचे, हुआ क्या धोखा,
क्या मैंने सच ही किया कुकृत्य अनोखा।
समझाओ मुझको भरत ! अबल हूं नारी,
जो किया ठीक वह था कि न था सुविचारी । ३५॥"

"मूर्खा नारी ! मन्थरा मन्त्रिणी जिसकी,
होगी ही कैसे विशद भावना उसकी।
परिणाम न सोचा और किया मनमाना,
होगा अब तेरे हाथ सदा पछताना ॥३६॥

पछतायेगी तू सदा विकल हो रोकर,
काटेगी अपने रात – दिवस रो रोकर।
पैरों पर तूने आप कुल्हाड़ी मारी,
पर साथ उजाड़ी आह ! अवध-फुलवारी ॥३७॥

तू रो करनी पर, धधक रहा उर मेरा,
है काल-पाश सा मुझे घोर यह घेरा।"
आंसू आहों से भरे, वचन ये कहकर,
दुख-दग्ध भरत झट गये बड़ी मां के घर ॥३८॥

दोनों, दोनों को देख दुःख में डूबे,
मन में बंधकर रह गये वचन मनसूबे।
कंठावरोध के बाद होश जब आया,
पैरों पर मां ने पड़ा भरत को पाया ॥३९॥

"मां ! कहां पिता हैं कहां राम से भाई
भावज सीता हैं कहां, लखन सुखदाई ?
वह पावन दर्शन-लाभ मुझे करवा दो,
या उन तक ही तुम मुझे शीघ्र पहुंचा दो ॥४०॥"

"बेटा ! होगे सुन चुके सभी तुम बातें,
दुर्जय सदा है कुटिल काल की घातें।"
"क्यों कुटिल काल है कुटिल अधम यह मैं हूं,
जिसके हित चला कुचक्र विषम वह मैं हूं ॥४१॥

मुझको माता! तुम लाख बार धिक्कारो,
दो शाप, तिरस्कृत करो, कठिन हो मारो।
क्यों मुझ पापी का जन्म हुआ इस भू पर,
मैं काल-केतु हूं उदित अवध के ऊपर ॥४२॥

मुझ से भय खायें सांप विषम हत्यारे,
मुझसे डर कर छिप जांय निशाचर सारे।
मैं जग का संचित पाप स्वयं प्रगटा हूं,
मैं नहीं जानता स्वतः आप मैं क्या हूं ॥४३॥

मेरे कारण ही अवध राम ने छोड़ा,
मेरे कारण तनु-बंध पिता ने तोड़ा।
मेरे कारण यह दशा तुम्हारी माता!
दानव हूं दानव, विपुल व्यथा का दाता ॥४४॥

मैं पैदा ही क्यों हुआ, हुआ तो अब तक,
जीता ही क्यों बच रहा वंश का कंटक।
मैं कैकेयी का अंग महा हत्यारा,
मैंने तड़पाकर अखिल अवध को मारा ॥४५॥

किस मुख से मांगूं क्षमा, सफाई क्या दूं,
किस तरह चीरकर हृदय तुम्हें दिखला दूं।
कैसे कह दूं केकय न अगर मैं जाता,
यह इतना बड़ा अनर्थ न होने पाता ॥४६॥

उस मां से मुझको भिन्न कौन मानेगा,
सम्मति थी मेरी या न; कौन जानेगा।
संशय की कोई दवा न धरती पर है,
विधि के विधान का आह! कुटिल चक्कर है ॥४७॥

कैकेयी जिसके लिये अनर्थ रचावे,
उसके इस सुत पर आंच न फिर भी आवे।
यह कैसे होगा। कौन इसे लख सकते,
मां बेटे भी हैं भिन्न स्वार्थ रख सकते ॥४८॥

जो हो, यह विषम कलंक न अब छूटेगा,
कैकेयी का सम्बन्ध कहां टूटेगा।
मैं रहूं कलंकी भले, अवध सुख पावे,
वह करो कि भैया पुनः यहां आजावे ॥४९॥"

थे शब्द हृदय-प्रतिबिम्ब, भाव के निर्झर,
था आंसू-सींचा आह-तपा उनका स्वर।
प्रति अंगों से थी हुई समर्थित वाणी,
करुणार्द्र हो उठीं कौशल्या कल्याणी ॥५०॥

खींचा उनको, ले गोद, हृदय लिपटाया;
बोलीं, "तुमको पा पुनः राम को पाया।
बेटा। तुम निर्मल-शील-कोष अक्षय हो,
तुम निष्कलंक हो पूर्ण, तुम्हारी जय हो ॥५१॥"

समाचार इतने में आया,
जान उसे अतिशय खोटी।
पीट रहे शत्रुघ्न मन्थरा को,
पकड़े उसकी चोटी।
रगड़ गया पत्थर से कूबड़,
वही रक्त की धार बड़ी।
कैकेयी जी मौन खड़ी हैं,
लखकर भी यह मार कड़ी ॥५२॥

कौशल्या ने कहा भरत से,
"जाओ उसका त्राण करो।
दया योग्य है निर्बल नारी,
दासी का कल्याण करो।"
गद्-गद् होकर कहा भरत ने,
"धन्य-धन्य तुम हो माता।
वैसा दोप, दया यह ऐसी,
यदि यह जगत सीख पाता ॥५३॥"

पहुंचते भरत न कुछ पल और,
मन्थरा-प्राण न पाते ठौर।
फटी काई सी उसको त्याग,
केकयी खड़ी रही बेलाग ॥५४॥

—ooo—

चतुर्थ सर्ग

भरत का वही भवन सुविशाल,
आज अभिभूत पड़ा बेहाल।
भरा था जिन चित्रों मे हास,
आज दिखते थे निपट उदास ॥१॥

भरत का आज और ही चित्र,
कर रहा था साकेत पवित्र।
कहां वह दिन कि सजा संगीत,
कहां यह दिन कि भित्ति भी भीत ॥२॥

भयानक था रजनी का राज,
प्रसाद रहित प्रासाद – समाज।
ढांककर मणि – दीपों के अंग,
कालिमा करती सी थी व्यंग ॥३॥

हजारों दृग-तारे निज खोल
रो रहा था आकाश अडोल।
हृदय मे ले अवनी की दाह,
व्यथित थी स्वतः अनिल की आह ॥४॥

सभी थे मौन, सभी गभीर,
हृदय में आग, नयन मे नीर।
विषम आतंक भरा सब ओर,
सभी को काल गया झकझोर ॥५॥

अकेले, भरत अशांत, अधीर,
व्यग्र, उद्विग्न, भरे उर पीर।
भ्रम रहे थे उद्देश-विहीन,
विचारों में अपने ही लीन ॥६॥

माण्डवी ने धीरे, पट खोल,
उदासी और अधिक दी घोल।
आगई करने करुणा – पूर्ति,
म्लानता की दयनीया मूर्ति ॥७॥

नम्र स्वर में वह वोली "नाथ,
वटाऊं कैसे दुख में हाथ।
वता दो यदि हो कहीं उपाय,"
टपाटप गिरे अश्रु असहाय ॥८॥

भरत ने लखा, हुए गभीर,
"ऊर्मिला होगी निपट अधीर।
संभालो उसे, न डूवे नाम,
सौंपता हूं तुमको यह काम ॥६॥"

विदा कर उन्हें, शोक में पैठ,
भरत चुपचाप रहे फिर बैठ।
सोचने लगे वही फिर वात,
वही उत्पात, वही आघात ॥१०॥

"जिन्हें था जन्म-सिद्ध अधिकार,
प्रजा का जिन पर अनुपम प्यार।
सभी विधि जो समर्थ गुण धाम,
मनुज के रूप महेश ललाम ॥११॥—

जिन्हें लख बरबस जाता जाग,
दुष्ट उर में भी शुचि अनुराग।
भयंकर विषधर काले नाग,
कुटिलता अपनी देते त्याग ॥१२॥—

उन्हें ही भेजा वन की ओर,
हृदय था या पाषाण कठोर !
न अच्छा हो, न बुरा पाषाण,
कहें कैसे फिर था पाषाण !! १३॥

❀ ❀ ❀

निष्कपट, निपट, निरीह, अकाम,
भूमि के भूषण थे श्रीराम।
उन्हीं पर मां का इतना रोष !
बड़ा दुष्पूर स्वार्थ का कोष ॥१४॥

हंस किसका करते नुकसान,
वधिक जो लेते उनके प्राण।
मृगों का, मीनों का, आखेट !
फलों से क्या न भर सका पेट ॥१५॥

स्वार्थ की कितनी दुर्धर आग,
जलाकर जगत रहा वह जाग।
आय के मिथ्या भ्रम में हाय,
मनुज मनुजों ही को खा जाय ॥१६॥

दम्भ, अविचार, अशांति बटोर,
मनुजता का बनता नर चोर।
एक दिन काल चलाकर दण्ड,
भुला देता उसका पाखण्ड ॥१७॥

चिताएं देख रहा सब ओर,
ढो रहा फिर भी कुयश कठोर।
हुई नर की यह कैसी बुद्धि,
प्रभो! कब होगी उसकी शुद्धि ॥१८॥

राम का राज्य अन्य ले छीन,
कहां है ऐसा वह मति हीन।
वृथा वर तथा दान के तर्क,
घनों से छिपा कहीं क्या अर्क? १६॥

न मेरे मन का किया विचार,
छीन ही लिया राज्य का भार।
दिखाती है वात्सल्य कठोर,
स्वार्थ यह था उसका घनघोर ॥२०॥"

❀ ❀ ❀ ❀

"उसी का दोष, मुझे क्यों पीर?
ग्लानि से क्यों हो रहा अधीर?
परम लघु, किंतु उदधि-उपमेय,
मनुज का चित्त बड़ा दुर्ज्ञेय ॥२१॥

लोक-अपवाद? नहीं, कुछ और
ग्लानि को देता उर में ठौर।
ग्लानि में क्रांति, ग्लानि में शांति,
हृदय की कैसी यह उद्भ्रान्ति। २२॥

कहाँ वे भैया परम महान,
न सुख में हृष्ट न दुख में म्लान।
कहाँ यह भरत महा मति हीन,
सुयश में पीन कुयश में दीन ॥२३॥

समझता था कि मान अपमान,
उभय हैं मेरे लिये समान।
एक ठोकर ही में यह ज्ञान,
उड़ गया सहसा धूलि समान ॥२४॥

रहा मैं हृदय-हीन मस्तिष्क,
काकिणी को समझा था निष्क।
आज मैंने जाना अनबोल,
हृदय का वेग, हृदय का मोल ॥२५॥

हृदय का जिनको नहीं विचार,
मूढ़ हैं या हैं ज्ञानागार।
मनुज हूं कैसे सकता भूल,
हृदय के शूल हृदय के फूल ॥२६॥

हृदय ही जान सका यह मर्म,
प्रेरणा किससे पाते कर्म।
कर्म यदि नहीं कहा फिर प्राण,
कहां इस अग जग का कल्याण ॥२७॥

तालियाँ रहे बुद्धि के पास,
न टूटे किन्तु हृदय-अधिवास।
तालियाँ टूट गई वे आह।
न रोके रुकता हृदय-प्रवाह ॥२८॥

असत् या सत् है उर का पथ,
बताये बुद्धि, कहे सद्ग्रंथ।
इस समय ग्रंथ बुद्धि के भार,
बह रहे पाकर दृग-जलधार ॥२९॥"

❀ ❀ ❀ ❀

"पिता ने किया कौन सा काम
कि जिससे मिला विषम परिणाम।
राम ने दी थी किसको त्रास
कि उनको मिला आज वनवास॥३०॥

सती सीता, लक्ष्मण से लाल
चुना क्यों उनने वन विकराल।
ऊर्मिला का क्या दोष महान,
कहीं भी आज न जिसको स्थान॥ ३१॥

मिला माताओं को वैधव्य,
प्रजा को अराजकत्व अभव्य।
करू क्या अपने लिये विलाप,
सभी पर पड़ा अहेतुक शाप॥३२॥

सभी का कारण मै हूं एक,
यही कहता उर का उद्रेक।
हुआ है चेतन जड़ सा आप,
अमिट है इस जड़ का परिताप॥३३॥"

❀ ❀ ❀ ❀

"न चलता यदि केकय का चक्र,
बोलती यदि न मथरा वक्र।
न माँ यदि खो देतीं सद्ज्ञान,
न देते यदि नरेश वरदान॥ ३४॥

उन्हीं के जीवित रहते आप,
प्रगटता मां का पश्चात्ताप।
न मै ही यदि तजता यह देश,
न रहता विपम क्लेश का लेश॥३५॥

किंतु वह "यदि" था विधि के हाथ,
दिया उसने न हमारा साथ।
विषम है विधि का विषम विधान,
मनुज कितना परतन्त्र महान॥३६॥

बनाकर इच्छामय प्रासाद,
मानते हम मन में आह्लाद
भाग्य का किंतु एक भूचाल,
ढहा देता सब कुछ तत्काल॥३७॥

काल की गति का तीव्र प्रवाह,
बहे जाते हैं हम सब आह।
मार लें भले एक दो हाथ,
छुटेगा किंतु न उसका साथ॥३८॥

हजारों भरे हुए सामान,
करोड़ों मन के ले अरमान,
डूबता क्षण में यत्न जहाज,
नियति की जब गिरती है गाज॥३९॥

पुरुष कुछ नहीं, समय बलवान,
समय के हाथ फलाफल दान।
रत्न बन गये धूल के ढेर,
न क्या कर सका समय का फेर! ४०॥

विरोधी बनते, जो थे प्रीत,
काल जब होता है विपरीत।
व्याधि आते अपने ही अंग,
बदल देते हैं अपना रंग॥४१॥

भाग्य-लिपि का पहले निर्माण,
देह को तब मिलते हैं प्राण।
नियति–परतन्त्र मनुज व्यापार,
नियति ही सार, नियति ही सार ॥ ४२॥

नियति है जगदात्मा का कर्म,
कौन समझेगा पूरा मर्म,
मनुज की बुद्धि निपट ही क्षुद्र,
और दुस्तर है ज्ञान – समुद्र । ४३॥

विषम यह विधि का रचा विधान,
विधाता समझे या भगवान।
हमें तो हरि इच्छा स्वीकार—
किये जाने ही का अधिकार ॥४४॥"

❀ ❀ ❀ ❀

"किन्तु फिर हरि ने क्यों दी शक्ति ?
हमें क्यों दी अनुरक्ति विरक्ति ?
प्रयत्नों की क्यों भरी उमंग ?
बुद्धि का हमें दिया क्यों संग ? ४५॥

बनाया जीवन क्यों गतिशील ?
कर्म में क्यों न कहीं है ढील ?
विश्व में व्याप रहा संघर्ष,
और संघर्ष – भरा उत्कर्ष ॥ ॥४६॥

यही प्रत्यक्ष, कि जो हो भाग्य,
न होवे कर्मों से वैराग्य।
भले ही बने उपाय अपाय,
मनुज निज–कर्म किये ही जाय ॥४७॥

यत्न ही हो जीवन का ध्येय,
कर्म की गीता सब की गेय।
भाग्य की बात भाग्य के हाथ,
पुरुष का है पौरुष से साथ ॥४८॥

सींचता है माली उद्यान,
फलाफल देते हैं भगवान।
किंतु क्या इससे भौंह सिकोड़,
सींचना देता है वह छोड़ ? ४९॥

मनुज के कर्मों का जो योग,
कहाता वही दैव का भोग।
उसी से बनती विधि की कील,
कर्म-चक्की जिस पर गतिशील ॥५०॥

कर्म से भाग्य, भाग्य से कर्म,
उभय में बीज-वृक्ष का धर्म।
भाग्य की बात भाग्य के हाथ,
पुरुष का हो पौरुष से साथ ॥५१॥

मनुज देखे इस "विधि" की ओट
विफलता में अपनी भी खोट।
दैव के मत्थे मढ़कर दोष,
मिलेगा कौन सफलता-कोष ! ५२॥

भूल को भूल, दैव को मान,
कर्म करना, है भूल महान।
प्रकट होगी जब अपनी भूल,
हृदय वेधेगी बनकर शूल ॥५३॥

कर्म यदि हरि – इच्छा अनुरूप,
मिलेंगे निश्चय सुफल अनूप।
भाग्य की बात भाग्य के हाथ,
पुरुष तो दे पौरुष का साथ ॥५४॥

पुरुष का भाग्य पुरुष से सृष्ट,
जगत का भाग्य ईश का इष्ट।
उभय का होता है जब मेल,
सफलता बनती केवल खेल ॥५५॥

पुरुष है भाग्य-विधाता आप।
अलस ही पाता है अभिशाप।
विज्ञ हैं कर्म – पन्थ आरूढ़,
दैव के बल पर रहते मूढ़ ॥५६॥

सुकर्मों पर यदि अपना ध्यान,
सहायक होंगे ही भगवान।
भाग्य की बात भाग्य के हाथ,
पुरुष दे पौरुष ही का साथ ॥५७॥

पिता तो गये न शेष उपाय,
उन्हें लौटाऊं कैसे हाय।
बन्धु हैं यहीं वनों में आज,
उन्हें क्या सौंप न सकता राज ? ॥५८॥

उन्हें क्या सौंप न सकता राज ?
उन्हें क्या फेर न सकता आज ?
नियति का जो हो विषम विधान,
यत्न के लिये अभी भी स्थान ॥५९॥"

नागरनृप चिल्लाकर बोला,
"साधु साधु है बात यही।"
विषम समस्या का हल निकला,
हुई उल्लसित शान्त मही।
फीकी पड़ी कलंक - कालिमा,
विमल ज्ञान का मिला प्रकाश।
लेने लगा तोष की साँसें,
हलका - सा होकर आकाश ॥६०॥

बीत गई वह रात,
प्रात नव छवि ले आया।
भरत हुए कुछ शांत,
चित्त में धीरज पाया।
परिषद निर्णय करे,
रहे ही या संशय-मय।
मन में तो कर लिया
भरत ने अपना निश्चय ॥६१॥

पंचम सर्ग

नृपति-मन्त्रणागार विविध मणि खंभों वाला,
भरता जो सब ओर मौन आतङ्क निराला।
रक्षित सभी प्रकार विशदता मे जो अनुपम,
अवधपुरी की शान भवन भवनों मे उत्तम ॥१॥

जुड़े वहाँ पर आज विभागों के अधिकारी,
सचिव सुमंत्र समान प्रतिष्ठा प्रभुता धारी।
जुडे विशिष्ट विशिष्ट शिष्ट सज्जन पुरवासी,
ज्ञान धाम ऋषि जुड़े विविध साकेत-निवासी ॥२॥

तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि वरिष्ठ वशिष्ठ पधारे,
जिनका ज्ञानालोक मेट सकता भ्रम सारे।
जिनका योग प्रभाव विदित था त्रिभुवन भर में,
जिनकी इच्छा रही अमिट आदेश नगर मे ॥३॥

आये सह शत्रुघ्न भरत, माताए आईं,
सब पर ही गंभीर मलिनताए थीं छाईं।
सब के सब थे मौन परिस्थिति थी कुछ ऐसी,
प्रेत-क्रिया के समय जनों की होती जैसी ॥४॥

तब बोले मुनिराज "वज्र विधि ने जो मारा,
वह तो चल ही चुका शेष ही है क्या चारा।
अब तो यह ही इष्ट कि हम कर्तव्य सँभाले,
जो करना है आज उसे कल पर क्यों टाले ॥५॥

नश्वर तन है क्षणिक पञ्च तत्त्वों का मेला,
जिसको पाकर जीव एक दो पल कुछ खेला।
जिस क्षण आया काल उसी क्षण मेला टूटा,
एक एक परमाणु अपरिचित सा हो छूटा ॥६॥

सब के सब सम्बन्ध हवा मे उड़ जाते हैं,
कुछ भी तो संग्राह्य न हम उसमें पाते हैं।
घिरती घोर विषाद – घनो की दुर्दम छाया,
उड़ जाती है तुरत विषम काया की माया ॥७॥

सड़ने लगती देह बिगड़ने लगती आकृति,
कृमि कीटों की भक्ष्य भयावह उसकी संसृति।
क्यों हो वह परिणाम मनुज ने यही विचारा,
किया धूल को भस्म चिता का लिया सहारा ॥८॥

हैं कुछ ऐसे यत्न देह कुछ दिन रह जाये,
किंतु कभी क्या लोग अमर शव को कर पाये।
गया जीव क्या कभी लौटता है उस तन में,
व्यर्थ यत्न वह अतः, वृथा रति रज के कण मे ॥९॥

नियमों के प्रतिकूल, विदेशी है वह सस्कृति,
रहें मनुज निर्ममी ममी क्यों हो शव-आकृति।
किन्तु परिस्थिति-विवश नियम में कर परिवर्तन,
हम सबने है यहां रोक रक्खा भूपति–तन ॥१०॥

पुत्र पिता का अंश वही अंत्येष्ठि रचाये,
पुन्नरकों से त्राण पुत्र ही हैं कर पाये।
किन्तु खेद, जिस समय भूप तनु बन्धन टूटा,
एक साथ ही साथ सभी पुत्रों का छूटा ॥११॥

रहे इधर ननिहाल भरत। तुम दोनों भाई,
उधर गये वन राम, हुए लक्ष्मण अनुयायी।
सूना पाकर काल काल ने छापा मारा,
अन्त्यकृत्य का भी न रहा कुछ शेष सहारा ॥१२॥

एक बात है और, 'भूप' तो अजर अमर है,
अब दशरथ के बाद भरत में उसका स्वर है।
उसकी आज्ञा विना उसी का अग्रिम वह तन,
कर सकता था दग्ध भला कब कोई भी जन ॥१३॥

अतः भरत! दृढ़ डोर ऋद्ध शासन की लो तुम,
हो अन्त्येष्ठि-प्रबन्ध वही आज्ञा अब दो तुम।
वृथा देर है वृथा रोक है प्रेत क्रिया की,
जो अवश्य करणीय, रहे अब वह क्यों बाकी ॥१४॥"

रहे भरत निस्तब्ध न कुछ भी बोले चाले,
तन पर थी जंजीर और मुख पर थे ताले।
मुनि ने देखा भाव और परमार्थ-कथायें,
लगे सुनाने जो कि मेट दें हृदय-व्यथायें ॥१५॥

बोले "कैसा दुःख, भरत! निज चित्त सँभालो,
शुद्ध बुद्धि पर वृथा मोह-आवरण न डालो।
किसका तुमको दुःख? देह का? वह रज-कण है,
जीवन उसकी विकृति, और बस, प्रकृति मरण है ॥१६॥

क्या आत्मा का दुःख? अरे वह तो अविनाशी,
रमा एक-रस सभी कहीं सच्चित् सुखराशी।
और जीव? हां, वही भटकता है तन तन में,
किन्तु वृथा है सोच जीव-निर्गम का मन में ॥१७॥

कितनी देह छोड़ जीव इस नर में आया,
कितनों का अतिरिक्त रहा यह लगा पराया।
किसका सुत हम कहें पिता किसका कह दें हम,
किससे है सम्बन्ध निभाया इसने हरदम॥१८॥

राजा यह ही आज वही कल बना भिखारी,
परसों वह ही चोर वही नरसों व्रत चारी।
आज वही है आर्य दस्यु कल वह बन जाता,
रचता नट-सा जीव विविध देहों से नाना॥१९॥

घर सब के घर नहीं, घाट हैं काल नदी के,
सम्बन्धी हैं जहां जुड़े, बस, दो क्षण ही के।
आई जिसकी नाव वही तज घाट सिधारा,
रहा यहीं का यहीं क्षणिक नाता वह सारा॥२०॥

है ऐसा विधि चक्र भूल जाता नर नाना,
जो जाता उस पार न वह फिर फिरकर आता।
रोवें कलपें भले यहां बरसों नर नारी,
गया जीव सो गया मेट स्नेह-स्मृति सारी॥२१॥

क्यों उसके हित दुख स्वयं जो यों निर्मोही,
जाना है तो जाय न हम रागी या द्रोही।
रहे एक, बस, भाव, 'ईश' उसको सद्गति दो;
गया तुम्हारी शरण तुम्हीं अब उसकी गति हो॥२२॥"

भूपतिवर ने पूर्ण आयु अपनी है भोगी,
भोगी शक्र समान रहे मनु से वे योगी।
जिनने चौदह भुवन विपुल यश से पटवाये,
उनकी अंतिम शान्ति दुखद क्यों कर कहलाये!! २३॥

और, तुम्हें सब भाँति भूप ने योग्य बनाया,
युवा हुए, सद्गृही बने, राजा पद पाया।
किसके माता पिता रहे संगी हर दिन के,
फिर क्यों शोच-निमग्न विरह में हो तुम इनके ? २४॥

अब भी चुप हो भरत ! व्यथा उर की अब क्या है ?
कहो हृदय की बात कौन दुख वहां बसा है ?
करो न सोच विचार भूप की आज्ञा पालो,
शव को मिले शिवत्व, दण्ड लो, मुकुट सँभालो ॥२५॥"

मर्माहत हो भरत कठिनता से तब बोले,
"दण्डित में क्या शक्ति दण्ड को वह जो तोले !
जीवित शव हूं प्रभो ! हुआ शिव तो वनवासी,
भूप सत्यतः वही नृपश्री जिसकी दासी ॥२६॥"

मुनि ने समझा भाव भरत-महिमा अनुमानी,
मन ही मन खिल उठे मौन होकर वे ज्ञानी।
सचिवोत्तम ने किन्तु इसी में लखी भलाई,
वाणी कहिए वही रहे जो सदा सुहाई ॥२७॥

बोले वे, "आदेश कीजिए अनुचर हम हैं,
यदपि तंत्र के अंग, भक्ति के आकर हम हैं।
रहे अचल यह छत्र ऋद्ध हो राज्य अवध का,
राजवंश जगमगे पूज्य औ प्राज्य अवध का ॥२८॥"

पौरों ने जययुक्त विनय अपनी दिखलाकर,
किया समर्थित यही मही तक हाथ बढ़ाकर।
फिर सन्नाटा हुआ विकल सौमित्र हुए तब,
बोले, "भैया ! मौन रहोगे तुम कब तक अब ? २९॥"

तब निश्चल निश्चेष्ट भरत बोले यह वाणी,
पावन श्रुति सी परम जाह्नवी सी कल्याणी।
"गुरुवर ने जो कहा सचिव ने जो समझाया,
वह अगाध है तत्व समझ इतना ही पाया ॥३०॥

सोच नहीं है, हुए भूप जो स्वर्ग-विहारी,
जीवन बाजी यहाँ एक दिन सबने हारी।
सोच यही है, अहह! समय की कैसी माया,
जिसने माँ को छला, राम को वन भिजवाया ॥ ३१॥

मैं भोगूं यह राज्य, नरक जीते जी झेलूं ?
जन्म-जन्म की साध एक पल में यों ढेलूं ?
वन-वन घूमें राम, करूँ मैं मौज यहाँ पर!
यह कैसा उपदेश, देश-हित कितना सुन्दर ॥ ३२॥

मुझे चाहिए नहीं उक्ति में द्व्यर्थक भाषा,
तर्क-जाल का मुझे चाहिए नहीं तमाशा।
मेरा निश्चय एक, राम ही अवध-नृपति हैं,
मैं हूं सेवक एक, एक वे मेरी गति हैं ॥३३॥"

सन्नाटा छा गया सभा में सुन यह वाणी!
यह अपूर्व-प्रस्ताव ? उक्ति इतनी कल्याणी ?
क्या यथार्थ ही सत्य या कि नय-मय-वाक् छल है;
समझ न पाये पौर हाँ कि ना में मंगल है ॥३४॥

कैकेयी की ओर लखा सचिवोत्तम ने तब,
बोले, "अब तो राज्य आप ही का है यह सब।
नयपूर्वक जो वस्तु मिली वह दूर न कीजै,
बनिये मही-महेन्द्र सुयश शासन का लीजे ॥३५॥

चौदह वर्षों तक न राम इस पुर में होंगे
चौदह वर्षों तक न घाव इस उर में होंगे।
फिर भी इच्छा रही, राम यदि फिर – फिर आये,
करियेगा वह कार्य कसक जिससे मिट जाये ॥३६॥

हमें विदित है राम सभी के दृग-तारे हैं,
हमे विदित है राम तुम्हें कितने प्यारे हैं।
तात भरत! पर क्या न भाव तुमने पहिचाने,
वे कब लेंगे राज्य तुम्हें जो दिया पिता ने ॥ ३७॥"

भरत हुए गम्भीर, रुके कुछ क्षण, फिर बोले,
"तात! आपने वचन न पूरे – पूरे तोले।
राज्य राम की वस्तु, कौन मैं देने वाला,
स्वतः सिद्ध अधिकार, कौन मैं लेने वाला? ३८॥

विवश न थे क्या पिता प्रतिज्ञायें कर दीं जब,
शुद्ध हृदय से वही अभिलषित रहा उन्हें कब।
उनकी आज्ञा न थी राज्य मैं अपना ही लूं,
फिर शब्दों में उलझ भाव पर चित्त न क्यों दूं? ३९॥

जाऊंगा मैं विपिन, चरण भैया के गहकर,
हठ पकड़ूंगा और कहूगा लौट चलो घर।
वे हैं दया-निधान मुझे क्या शरण न देंगे,
क्या इतनी सी बात न मेरी वे रख लेंगे? ४०॥"

पौर प्रमुख कह उठा "आपकी जय हो जय हो,
मार्ग आपका सदा सिद्ध मुद-मंगलमय हो।
दोनों सम हैं हमें भूप हों आप कि वे हों,
किन्तु किसी विधि हमें दरस तो रघुवर के हों ॥४१॥"

बोले 'धन्य' वशिष्ठ, "धन्य है रघुकुल-नंदन!
इतना दुष्कर त्याग! धन्य सज्जन-उर-चंदन!
नव-मर्यादा तोड़ नई नव-राह दिखाई,
तुमसे जग ने आज नई है आभा पाई ॥४२॥

किसे न प्यारी शक्ति, भोग हैं किसे न प्यारे,
यश के साधन छत्र चँवर किसके न दुलारे!
आई लक्ष्मी विपुल सामने पा ठुकराई,
आखिर तुम हो भरत, राम ही के लघु भाई ॥४३॥

तुमने जो कर दिया किसी ने किया न वैसा,
अश्रुतपूर्व विधान, किसी ने लखा न ऐसा।
धन्य तुम्हारी समझ, तुम्हारी है बलिहारी,
हम सब की भी सुनति तुम्हारी नति पर वारी ॥४४॥"

गद्गद् हो शत्रुघ्न देखते रहे भरत को,
विरति-विवेक-निधान त्याग के अनुपम व्रत को।
पाया कुछ संकेत कहा 'नृप तनु का क्या हो,'
बोले भरत कि 'दाह शीघ्र सम्पन्न यहां हो ॥४५॥

रही महीनों देह वृथा उसका अब रखना,
नृप-अभाव में वृथा नृपति-आज्ञा-सुख लखना।
प्रेत-क्रिया हो पूर्ण, अन्त्य यह बन्धन टूटे,
छूटा जब संसार शेष नृति-साधन छूटे ॥४६॥

जो हो गुरु आदेश मान्य होगा सबको वह'
हुए भरत जी मौन सभा में बस इतना कह।
सब ने आयत दृष्टि मुनीश्वर ओर प्रसारी,
होगा क्या निर्णीत राज-सत्ता अधिकारी? ४७॥

किन्तु रहे मुनि मौन विषय यह फिर न उठाया,
बोले केवल "भरत। तुम्हारा हो मनभाया।
दाह-क्रिया कर पूर्ण चले हम सब ही कानन,
लौटे फिर से राम सहायक जो चतुरानन ॥४८॥"

सहसा-वनिता मडल में कुछ हलचल सी छाई उस काल,
सबने देखा कैकेयी जी हुईं मूर्छिता सी बेहाल।
होने लगे तुरत ही उन पर पानी पखे के उपचार,
सभा विसर्जित हुई शीघ्र ही रानी का वह हाल निहार ॥४९॥

संभाला, ले गये माँ को भरत जी,
मिटी पल में सभी हलचल भवन की।
जुड़े थे जिस जगह यों अवधवासी,
श्मशानों सी वहाँ छाई उदासी ॥५०॥

षष्ठ सर्ग

सवेरे ही सवेरे पालकी पर,
गईं जब कैकयी मुनिराज के घर।
अचम्भे में पड़े घबरा गये सब,
"बचा क्या और होने को यहाँ अब ? १॥

महल में रह चलाया चक्र ऐसा,
विलोका भी किसी युग ने न जैसा।
करेंगी और क्या अब राजरानी,
असूर्यपश्य की जो रीति भानी ? २॥"

कहां यह ध्यान था अब भरत-माँ को,
कहां यह ज्ञान था अब भरत-माँ को।
विषम था ताप का यों तीव्र घेरा,
हृदय में था अँधेरा ही अँधेरा॥३॥

इधर मुनिवर प्रणव के ध्यान में थे,
न था कुछ भान ऐसे भान में थे।
अनाहत बीन मौनालाप में थी,
सुरति सलीन अपने आप में थी॥४॥

अरुंधति माँ कुटी के कार्य सारे,
अभी निपटा चुकी थीं शान्ति धारे।
तपस्वी की स्वतः तप-सिद्धि-सी वे,
खड़ी थीं पास ही मुनिराज जी के॥५॥

विभव के नाम पर थीं दो लंगोटी,
शयन को थी न टूटी खाट छोटी।
मगर वह तेज था जग को झुकाये,
अनूपम चक्रवर्ती कॉप जाये ॥६॥

उभय थे श्वेत, केशों में सुयश में,
उभय थे शक्ति के स्वामी स्ववश में।
जरठता ने यदपि चक्कर लगाया,
तनी तन पर न मन में स्थान पाया ॥७॥

लखा माँ ने कि थीं बेहाल रानी,
लिये सी आगईं भूचाल रानी।
कहा, "स्वागत, कहो कैसे पधारीं,
कहाँ किस हेतु एकाकी सिधारीं ॥८॥"

बढीं रानी झपटकर पैर पकड़े,
गिरीं उन पर चिपटकर और जकड़े।
बही यों आंसुओं की तीव्र धारा,
बहा माँ के हृदय का क्षोभ सारा ॥९॥

हुईं करुणार्द्र मुनिपत्नी तुरत ही,
सतों का इष्ट है परमार्थ व्रत ही।
झुकीं, सस्नेह रानी को उठाया,
घटाया ताप, निज उर से लगाया ॥१०॥

सिसकियां ले रही थीं राजरानी,
न मुख पर आरही थी स्पष्ट वाणी।
मुनीश्वर का उसी क्षण ध्यान टूटा,
इधर भी रुद्ध-स्वर का बाँध फूटा ॥११॥

गिरीं साष्टांग पैरों पर प्रणति में,
"प्रभो। तुम ही हमारी गति अगति में।
विषम विधि-यंत्रणा से पार कर दो,
विधाता के तनय। उद्धार कर दो ॥१२॥

सिखाई जो गई मैंने किया वह,
भरत का प्राप्य लखकर वर लिया वह।
वही वर किंतु अब अभिशाप निकला,
भरत के हेतु बनकर पाप निकला ॥१३॥

भरत यदि राज्य ले, सो पाप मैं लूं,
भरत राजा बने, अभिशाप मैं लूं।
नहीं वह किंतु निश्चय से टलेगा,
टले तो दैव ही चाहे टलेगा ॥१४॥

कलंकित ही रहूंगी जन्म भर मैं,
करूंगी क्या कुजीवन प्राप्त कर मैं।
मिटे दुर्दैव यह यदि आप चाहें,
तपस्या की प्रथित हैं दीर्घ बाहें ॥१५॥

हुआ जो, वह अमिट है इसलिये अब,
कि राजा से फिरा सकती वचन कब।
नृपति फिर देह में यदि जाग जावे,
अवध के दुःख सारे भाग जावें ॥१६॥

असम्भव है न कुछ वह नाथ। तुमको,
सदा है सिद्धियों का साथ, तुमको।
मिटा दो ताप इस उर का मिटा दो,
प्रभो! क्षण के लिये नृप को जिला दो ॥१७॥"

मुनीश्वर ने कहा गम्भीर होकर,
"न रानी। कुछ मिलेगा बुद्धि खोकर।
धरो धीरज, न अपना जी दुखाओ,
गई जो बात उसको भूल जाओ ॥१८॥

विधाता एकदर्शी ही नहीं है,
परम वह सर्व-दर्शी सब कहीं है।
भले वह एक को भी दे सहारा,
उसे है सर्व का कल्याण प्यारा ॥१९॥

अमिट है राम का वनवास होना,
अमिट था भरत को यह त्रास होना।
इसी में लोक का कल्याण होगा,
इसी मे इस धरा का त्राण होगा ॥२०॥

अनेकों देह तजकर जीव आया,
कि जो दशरथ यहाँ भूपर कहाया।
जिलाकर फिर उसे दें मृत्यु का दुख ?
कहो, इस प्रक्रिया में कौन सा सुख ? २१॥

कहां निश्चय कि इस तन पर अभी भी,
वनी है पूर्ण रुचि उस पुरुषवर की।
हुआ जो, बस, उसी में शांति पाओ,
गई जो वात उसको भूल जाओ ॥२२॥"

भुलाती किस तरह वह राजरानी,
व्यथा ने तो कसक थी और तानी।
भिदा उर में न जब वह ज्ञान बाँका,
हृदय ने और ही कर्तव्य आँका ॥२३॥

उधर, नृप-देह को लेकर दुखित-मन,
नदी के तीर पर पहुंचे सभी जन।
कभी जो विश्व-वंद्य कहा रही थी,
वही अब क्षार होने जा रही थी ॥२४॥

हजारों वासनाएं कामनाएं,
करोड़ों क्षुद्र स्वार्थों की कथाएं।
रहे जिसके कई अनुराग के घर,
चला वह नर धधकती आग के घर ॥२५॥

विभव की राशियां जिस पर जुड़ी थीं,
पताकाएं कई जिसकी उड़ी थीं।
उसी की धूल उड़ने को यहां है,
कहेगा कौन वह क्या था, कहां है ॥२६॥

उदधि में एक बुद्‌बुद था, ढला वह,
हवा का एक झोंका था, चला वह।
रहा कब विश्व पर अधिकार उसका,
न अपनी सॉस पर अधिकार जिसका ॥२७॥

उड़ा पंछी रहा तृण जाल बाकी,
मढ़ा, बस, खाल से कंकाल बाकी।
मगर वह भी चला निःशेष होने,
अजानी राह पर अस्तित्व खोने ॥२८॥

श्मशानस्थल जहां, थे लोग पहुंचे,
जहां तक जासके वे लोग पहुंचे।
वहां के बाद तो थी अगम धारा,
न जिसका पा सका कोई किनारा ॥२९॥

गये उड़ गिद्ध और शृगाल भागे,
सड़ी सी लोथ चोथी छोड़ आगे।
मगर की राह ने परवाह किसकी,
उसे थी आह किसकी चाह किसकी ॥३०॥

वही सरयू करोड़ों अश्रु लेकर,
मगर इस भूमि पर आया न अन्तर।
पहनकर अस्थियों की मुंडमाला,
अड़ी ही रह गई काली कराला ॥३१॥

इयत्ता लोक के अरमान की यह,
परा सीमा नरों की शान की यह।
यहीं पर मृत्यु जीवन खा रही थी,
यहीं जीवन-कथा लय पा रही थी ॥३२॥

कहा किसने कि 'निर्धन वह धनी वह,'
लखा किसने कि निर्गुन वह गुनी वह।
चिताएं अग्नि – जिह्वाएं प्रसारे,
निगलती जा रही थीं जीव सारे ॥३३॥

यहीं भिक्षुक यहीं नृपवर्य स्वाहा,
यहीं वपु का सकल सौंदर्य स्वाहा।
अवस्था का न कोई वेध इसमें,
अनवरत हो रहा नरमेध इसमें ॥३४॥

विषैले काल की फुफकार थी वह,
मगर शिव की विभूति अपार थी वह।
भयानक, पर विरति-जननी भली थी,
अपावन, पर परम पावन थली थी ॥३५॥

सभी को एक गोदी में खिलाती,
सभी को पाठ समता का पढ़ाती।
विषम उग्र भूमि में सम ठौर लखकर,
चिता विरची गई शव हेतु सत्वर ॥३६॥

बनी जब स्वर्ग की सोपान सी वह,
बनी जब एक भव्य विमान सी वह।
रही जब अर्पने को अग्नि-रेखा;
सभी ने कैकयी का यान देखा ॥३७॥

सभी घबरा उठे, यह क्या हुआ अब,
किसी की मान सकनीं कैकयी कब!
चलेगा और क्या षड्यन्त्र कोई,
जगेगा आज मरघट-मंत्र कोई ? ३८॥

शलभ को एक पल में क्षार करके,
बढ़ी दीपक-शिखा शृंगार करके।
बढ़ायेगी उसे क्या क्षार घटकर,
लगी लौ क्या बुझेगी यों सिमटकर ? ३६॥

नगर जब कैकयी का हाल देखा,
सबों ने ही सती का भाल देखा।
भरत जी यदि न बढ़कर रोक लेते;
उसे नृप संग सुर के लोक लेते ॥४०॥

नृपति के संग जलने को खड़ी थी,
सती निज सत्व पर आकर अड़ी थी।
किसे साहस कि कुछ समझा सके जो,
किसे साहस कि उस तक जा सके जो ॥४१॥

भरत ही सामने आये, कहा यों—
"दिवंगत जीव को न अधिक सताओ।
जलोगी यदि चिता को पास पाकर,
जलाओगी पिता को पास जाकर ॥४२॥"

विषम इस व्यंग से जो चोट आई,
गिरी रानी न पल भी संभल पाई।
बहुत उपचार पर जब होश आया,
वदन पर रुद्ध वाणी-स्रोत छाया ॥४३॥

"चला जो तीर, तरकस में न लौटा,
हुई जो भूल उसने चित्त औटा।
व्यथामय प्राण रख मै क्या करूंगी,
मरूगी पुत्र! छोड़ो, मै मरूंगी ॥४४॥

न तुम आये न मुझको ज्ञान आया,
वरों के लोभ मे क्या क्या न पाया।
लखूं जब तक वरों की पूर्ण परिणति,
कि सहसा रुक गई नृप की हृदय-गति ॥४५॥

सचिव की बात से आहत हुआ उर,
गये इस शीघ्रता से भूप सुरपुर।
न उर की बात मैं कुछ खोल पाई,
कठिन क्यों थी न यह कुछ बोल पाई ॥४६॥

स्वयं सौभाग्य का सहार करती?
न इतना राक्षसी अविचार करती।
मगर अब व्यर्थ है यह तर्क-माला,
जला दो देह, बुझ ले हृदय ज्वाला ॥४७॥

लिये हैं प्राण मैंने प्राणधन के,
निछावर हो रहूंगी उस चरण के।
यहाँ पाया न जो वरदान उनसे,
वहाँ मांगू दया का दान उनसे ॥४८॥"

बढ़ीं रानी, पुनः रोका भरत ने,
चरण पकड़े जननि के शील-व्रत ने।
कहा, "हूं आज तुमसे धन्य माता!
सुखी मुझसा न कोई अन्य माता!! ४६॥

बड़ा तप है यही परिताप नर का,
इसी से पुण्य बनता पाप नर का।
न इसको किंतु इतना शीघ्र टालो,
सँभालो देह तप के हित सँभालो ॥५०॥

तुम्हारे ज्येष्ठ सुत श्रीराम जी हैं,
तुम्हारा कार्य उनके प्रति यहीं है।
न वह कर्त्तव्य जब तक तुम निभा लो,
उचित है देह तब तक तो सँभालो ॥५१॥

मिली जो देह उसका घात करना!
महा पातक स्ववपु का पात करना।
सहो कांटे कि उर यह फूल होवे,
सहो यह दुख कि विधि अनुकूल होवे ॥५२॥"

अनेकों ही दिये यों बोध उनने,
अनेकों ही किये अनुरोध उनने।
कठिनता से रुकीं तब राजरानी,
दृगों का रुक न पाया किंतु पानी ॥५३॥

लगी आग जल उठी चिता वह,
भड़काकर उर उर की आग।
डूबे शोक-सिंधु में दिन-मणि,
लपटें गईं क्षितिज तक भाग।
प्रेत-क्रिया से पूत जीव का,
करने को स्वागत सत्कार।
ज्वलित किये नक्षत्रों के मिस,
अमरवृंद ने दीप अपार ॥५४॥

दी जलाञ्जलि, रात आई जानकर,
लौट आये लोग घर का ध्यान कर।
जब कि छिटका फिर नवीन विहान था,
ध्यान में प्रस्थान ही प्रस्थान था ॥५५॥

सप्तम सर्ग

राम की चर्चा रही जब तब रही,
प्रश्न था अब कौन भोगेगा मही।
घाट बाट सभी स्थलों पर इस समय,
भरत ही थे एक चर्चा के विषय ॥१॥

कुछ समझते, भरत ही का राज था,
कुछ समझते, राम का सुख-साज था।
भिन्न चर्चाएं रहीं हर राह पर,
अड़ गए कुछ द्रोह पर, कुछ चाह पर ॥२॥

एक बोला "कल उधर प्रस्थान है;"
दूसरा बोला "इधर भी ध्यान है।
सज रहा वनगमन हेतु समाज भी,
नगर-रक्षा के सजे हैं साज भी !! ३॥"

तीसरा बोला कि "नागरता कहां,
शब्द में यदि भाव खिल जायें यहां।
जो विचारों को छिपा सकती नहीं,
नय-निपुण व्यवहार्य वह भाषा कहीं ? ४॥"

राह में जो नगर-रक्षक था खड़ा,
वाक्य कुछ उसके श्रवण-पुट में पड़ा।
मुस्कराहट यों अधर पर आगई,
जो उसे उनका वयस्य बना गई ॥५॥

इस तरह के व्यक्ति था वह चाहता,
इस तरह की संधि था वह चाहता।
नगर-रक्षक उन सयानों में रहा,
क्रान्ति रच दें पर न दें अपना पता ॥६॥

प्रश्न था उनका "प्रबंध अपार क्यों,
त्याग है तो फिर रचा संसार क्यों ?"
और उत्तर था कि 'हम तो यंत्र हैं,
अर्थ जानें वे कि जिनके मंत्र हैं ॥७॥"

एक बोला "यंत्रवत् अस्तित्व है,
व्यर्थ ही तब आपका व्यक्तित्व है।
अर्थ इतना भी न यदि समझा सके,
आप फिर रक्षक यहाँ किस बात के ? ८॥"

"हम इसी से हैं कि शत्रु न आ सके,
हम इसी से हैं कि नृपनय छा सके।
राजकुल जाने कि राजा कौन हो,
लीक पर अपनी चलो तुम मौन हो ॥९॥"

मौन होने को सभी तब हो गये,
पर न उर के तर्क सारे सो गये।
देख यह, कुछ और आगे बढ़ वहां,
मंद स्वर से नगर-रक्षक ने कहा ॥१०॥

"राम मेरु हमें, भरत कैलास हैं,
कौन दोनों में हमारे पास हैं।
भूप को हम "देव" ही जाना किये,
देव का आदेश नर माना किये ॥११॥

देव का आदेश है हम घर रहें,
जानते हैं हम कि आज्ञा पर रहें।
और इससे अधिक क्या अब ज्ञेय है,
जो विधान हुआ वही सुविधेय है ॥१२॥"

एक बोला "देव के क्या अर्थ हैं ?
बस यही न, कि भरत पूर्ण समर्थ हैं ?
नगर-रक्षा के इधर हैं साज भी।
सज रहा वन गमन हेतु समाज भी ॥ १३॥

भिन्न बातें भिन्न स्वर से आ रहीं,
हैं जनश्रुतियां अनेकों छा रही।
'बात' जब बढ़कर बदलती 'वित्त' में,
क्या कहें क्या है भरत के चित्त में ॥१४॥

जान पड़ता है कि मद भूपत्व का,
आगया है रंग ले अमरत्व का।
राह के कांटे हटाने जा रहे,
देव अपने को बनाने जा रहे ॥१५॥

हम सबों के चित्त में है जो व्यथा,
कह रहे हैं आपके दृग वह कथा।
न्याय जब है राम ही के पक्ष में,
क्यों न हों वे हर किसी के वक्ष में ! १६॥"

"पर भरत के हाथ में अब दण्ड है,
जो नृपाज्ञा वह सदैव अखण्ड है।"
"किन्तु भूला वेन का इतिहास क्या ?
दण्ड जनता के नहीं है पास क्या ? १७॥"

"दण्ड दुर्बल वह, न उसका नाम लो,
शस्त्र कुण्ठित जो, न उससे काम लो।
हम व्यवस्थापक, अनिच्छा से सही,
एक आज्ञा पर कँपा सकते मही ॥१८॥"

"राम का यदि बाल भी बाँका हुआ,
जान लो कर्तव्यपथ आँका हुआ।
मारकर चाहे न लें बदला कहीं,
मर मिटेंगे न्याय पर हम सब वहीं ॥१९॥"

"गृह-कलह क्यों राजकुल तक ही न हो,
क्यों जगाते हो प्रजाविद्रोह को?"
"न्याय पर आघात जब लगते कड़े,
सुप्त शव भी जाग, हो उठते खड़े ॥२०॥"

"मर मिटोगे तो मिलेगा न्याय क्या?"
"मृत्यु भी अमरत्व का न उपाय क्या?"
"खेद है, वन गृह-कलह का खेत हो।"
"और क्या होगा वहाँ समवेत हो? २१॥"

"राज्य वे चाहे यहां सुख से करें,
पर न जा वन में अनर्थ हरे। करे।"
"साथ हम होंगे; अनर्थ कहीं हुआ,
तो समझ लो सब अनर्थ वहीं हुआ ॥२२॥"

था यही तो नगर-रक्षक चाहता,
राम के वह गुप्त-भक्तों में रहा।
उक्ति का चातुर्य चलता और कुछ,
किन्तु उसने दृश्य देखा और कुछ ॥२३॥

नगर-रक्षक ने किया संकेत तब,
लगे पीछे देखने मुख फेर सब।
आ रहा था यान सच ही भरत का,
हो गया वाचाल दल वह सकपका ॥२४॥

भरत निकले थे व्यवस्था देखने,
नगर-रक्षा की अवस्था देखने।
सकपका-सा दल विलोका राह पर,
सारथी ने यान रोका राह पर ॥२५॥

भरत ने देखा, उन्होंने प्रणति की,
अटपटी सी भावना मुख पर टिकी।
कह उठे सहसा कि "देव रहें यहां,
हम सबों को छोड़ जायेंगे कहाँ ॥२६॥

ये महल जिनमें कि सब श्रृंगार हैं,
दास दासी ये कि सेवा-सार हैं।
यह प्रजा जो है सदा वशवर्तिनी,
यह अतुल बल की विशाल अनीकिनी ॥२७॥

सब सुखों की पूर्ति का संयोग यह,
दिया नृप ने आपको है भोग यह।
आप ही मुख मोड़ लेंगे इस तरह,
दिवंगत-नृप-तोष होगा किस तरह ॥२८॥

विश्व की महिमा सिमट आई यहाँ,
रत्न-गर्भा-ऋद्धि सब छाई यहाँ।
केन्द्र है साकेत रघुकुल राज्य का,
एक ही गौरव सुशासन प्राज्य का ॥२९॥

इस नगर की विभव-आभा से ठगी—
अन्य भूपों की कुदृष्टि इधर लगी।
आप ही यदि छोड़ जायेंगे हमें,
कौन फिर उन से बचायेंगे हमें ॥३०॥

सकल कृत्यों का प्रवर्तक काम है,
काम ही पर स्थित सदा धन-धाम है।
आपको अपनी न प्यारी कामना,
पूरिये प्रभुवर। हमारी कामना ॥३१॥"

उक्ति का सब तत्व मानस में गहा,
धीर-धुरधारी भरत ने तब कहा,
"बन्धुओ। नृप राम निश्चय आप ही,
है उन्हीं की वह तथा यह भी मही ॥३२॥

राज्य उनका फूलता-फलता रहे,
विश्व उनकी शरण में पलता रहे।
भावना यह ही परम शांति-प्रदा,
कामना यह हो परम कान्ति-प्रदा ॥३३॥

कब कहूं मैं कामना से हीन हूं,
मैं इसी ससार-ह्रद का मीन हूं।
कामना है किंतु हट धन-धाम से,
लौ लगे धन-धाम-पति श्री राम से ॥३४॥

लौ लगी, लगती लगाये वह नहीं,
दौ लगी, बुझती बुझाये वह नहीं।
क्यों यहीं रहकर विरह में जन जलें,
चल रहे हैं, सब चलें सुख से चलें ॥३५॥

किंतु यदि कोई न मेरा साथ दे,
क्या हुआ, मुझको न कोई हाथ दे।
मै अकेला ही हृदय को थाम के,
शरण मांगूंगा दयामय राम से ॥३६॥

जा रहा हूं तीव्र उर का भार ले,
जा रहा हूं कसक का ससार ले।
दीन दुखिया के सहारे राम हैं;
इस अधम के प्राण प्यारे राम हैं ॥३७॥

किंतु यह धन-धाम उनकी संपदा,
आ न पाये इस धरा पर आपदा।
प्रार्थना है आप सब, सहयोग दें,
काम ऊंचा हो उठे वह योग दे ॥३८॥"

नगर-रक्षक ध्यान से था सुन रहा,
शब्द के शुचि अर्थ मन में गुन रहा।
हो उठा गद्‌गद्, कहा,"प्रभु धन्य हो,
पथ-प्रदर्शक कौन तुम-सा अन्य हो ॥३९॥

आज कर्मों की सतह ऊंची उठी,
वृत्ति मानस की अहह! ऊंची उठी।
गुह्य शासन-तंत्र का सब खुल गया,
आप ही सब पाप उर का धुल गया ॥४०॥

आपमें उनमें न कोई भेद है,
भेद जो समझे समझ पर खेद है।
भावना मे एक-निष्ठा इस तरह।
कामना हो तो वरिष्ठा इस तरह ॥४१॥

"देव" को "नर" का रुचिर वपु मिल गया,
और नर-देवत्व सहसा खिल गया।
राज-कुल-अभिमान का परदा बड़ा,
आप हम के बीच जो था खुल पड़ा ॥४२॥

राम सब के ईश, चाकर हम सभी,
एक शासन-अङ्ग, हम भी आप भी।
वह रहे जिसका जहाँ कर्तव्य है,
ईश की यह ही व्यवस्था भव्य है ॥४३॥

दूर हम होंगे नहीं श्री राम से,
यदि लगे हैं हम उन्हीं के काम से।
जाइये प्रभु। आप सुख से जाइये,
इस अयोध्या में उन्हें फिर लाइये ॥४४॥"

और पुरजन? वे हुए लज्जित बड़े,
मन्त्र-मुग्ध समान प्रतिमा से खड़े।
"क्या करें?" जब तक विचार किया किया,
यों, क्रमागत भीड़ ने उत्तर दिया ॥४५॥

"जय तुम्हारी हो कुँवर। हम साथ हैं,
हम वहीं होंगे जहाँ रघुनाथ हैं।
नगर - रक्षकगण नगर - रक्षा करें,
राम को ला हम यहाँ के दुख हरें ॥४६॥

भूप के अभिषेक के सब साज लो,
तीर्थ के जल और पावन ताज लो।
छत्र चंवर गजादि वाहन संग हों,
चक्रवर्ती के सभी वे रंग हों ॥४७॥

साथ सेना हो कि नृप को मान दे,
साथ हो मुनिमण्डली कि विधान दे।
साथ परिजन हों कि सेवा भार लें,
साथ पुरजन हों कि प्रभु स्वीकार लें ॥४८॥

साथ मणि-माणिक्य के भण्डार हों,
साथ राजस विभव के शृंगार हों।
चक्रवर्ती की समूची शान से,
वे यहाँ आवें स्वतः भगवान से ॥४९॥"

भरत बोले "प्रात कल प्रस्थान है,
सिद्धिदाता एक बस भगवान है।"
लोग बोले "यत्न अपने साथ है,
और फल रघुनाथ जी के हाथ है ॥५०॥"

दूसरे दिवस प्रात ही से पुरवासियों की,
भीड़ पर भीड़ जमी रघुपति-द्वार पर।
लहरा गई सी लोल लहर अनोखी आज,
रथ, हाथी, ऊट और घोड़ों की कतार पर।
फड़क रहे थे अंग-अग ही उतावली में,
भड़क रहे थे लोग थोड़ी देर-दार पर।
ऐसी थी उमंग, न सवार ही थे वाहनों पै,
लाख-लाख जोश थे सवार से सवार पर ॥५१॥

फूंका शंख गुरु ने, पयान सब ही ने किया,
अवध प्रवासी हुआ मानो जीवधारी हो।
उड़ चले घोड़े, दौड़-दौड़ चले हाथी, ऊंट,
रथ की सवारी मानो विद्युत् सवारी हो।

पदचर निकर की बात ही चलावे कौन,
वे भी चले खग-मृग-गति अधिकारी हो।
छाई धूल ऐसी मानों राम को विलोकने को,
भूमि ही समूची चली व्योम-पथ-चारी हो ॥५२॥

नागर नरों की सो अनीकिनी वनी ठनी सी,
आकुल वनी थी आज वन वन जाने को।
उद्यत हुई थी दुख-सागर निमग्न भीड़,
सुख सर सरस सरोज खोज पाने को॥
उपा चली सूर्य-कुल-गौरव की चाह भरी,
निशा चली मानों रामचन्द्र के मनाने को।
सेन ओज-सानी नेह-देह सी चली थी आज,
देह सी चली थी आज प्राण फेर लाने को ॥५३॥

पालकी किधर जा रही हैं जननी गण की,
सुख सुविधाओं के सवाल करते रहे।
तीव्रगामियों की रोक थाम करते रहे वे,
मंदगामियों की तीव्र चाल करते रहे।
मुनिजन, पुरजन, सचिवजनों ही की न,
दास दासियों की भी संभाल करते रहे।
आगे कभी पीछे कभी, दौड़-दौड़, ठौर-ठौर,
भरत सभी की देख-भाल करते रहे ॥५४॥

गति ही गति से था काम कहीं,
कुछ ही क्षण का विश्राम कहीं।
इस भांति पार पथ विकट हुआ,
तव शृंगवेरपुर निकट हुआ ॥५५॥

अष्टम सर्ग

'श्री शृंगवेरपुर' नाम बड़ा,
जिस पल्ली पर था अड़ा पड़ा।
उसकी थी उटजोंयुक्त मही,
फूहड़ सी खीसें काढ़ रही ॥१॥

पशुशाला से फूसों के घर,
कुछ यत्र-तत्र अपने रचकर।
पाशव जीवन वहते–वहते,
उसमें पशु से नर थे रहते ॥२॥

कछुए कि मछलियां मिलीं उन्हें,
समझो कि सिद्धियां मिलीं उन्हें।
जिस दिन कोई आखेट मिला,
भोजन उस दिन भर पेट मिला ॥३॥

वह चूहा हो कि शेर ही हो,
तरु चीटों का कि ढेर ही हो।
जो पाया चट उसको खाया,
क्या सुंदर "कोल" नाम पाया ॥४॥

थे कोल भील ही नहीं वहां,
थे केवट भी हर कहीं वहां।
पर वन्य एक से थे सारे,
मानव का मृदुल नाम धारे ॥५॥

झगड़े झांसे की बात न थी,
धन था न द्रव्य की घात न थी।
यदि कोई अड़चन पा लेते,
पंचायत कर निपटा लेते ॥६॥

पंचायत ही का साज रहा,
कहने ही को गुह-राज रहा।
पचों ने गुह को मान दिया,
सरदार उसे था मान लिया ॥७॥

वह था निपाद-कुल का जाया,
अस्पृश्य अधम जो कहलाया।
ऐसा मरदाना राजा था,
अंधों में काना राजा था ॥८॥

तन पर थी एक लंगोटी सी,
प्रासाद? कुटी बस छोटी सी।
कुछ तीर कमानों के बल पर,
थे गुह निषाद जी भूपति वर ॥९॥

उत्सव था एक वहाँ बांका,
तानों का उठता था हांका।
ताड़ी ने रंग जमाया था,
सब ही को नाच नचाया था ॥१०॥

इतने में हल्ला सा आया,
रज का बादल नभ पर छाया।
जल सा सहसा सिर पर टूटा,
जलसों का सहज ध्यान छूटा ॥११॥

कुछ चढ़े ताड़ के झाड़ों पर
कुछ बड़े झाड़ झंखाड़ों पर।
जाना कि भरत दल-बल लेकर,
जाते हैं अब हैं राम जिधर ॥१२॥

चौंका गुह "इसका मतलब क्या,
होने को है आगे अब क्या?
मिलना ही था तो मेला क्यों?
सेना का बड़ा झमेला क्यों? १३॥

वे राम, जिन्होंने हमें कहा,
तुम नर हो, नर में शक्ति महा।
वे राम, हमें जो अपनाकर,
बन गये हमारे ही आकर ॥१४॥

वे राम, बसे हैं जो मन में,
जादू था जिनकी चितवन में।
वे राम, मिले जो भाई से,
सब को सब विधि सुखदाई से ॥१५॥

भाई ही उन पर वार करे?
उफ़ इतना अत्याचार करे!
होगा यह मेरे जीते जी?
ना, बात नहीं यह होने की ॥१६॥"

उसने तुरन्त तुरही फूंकी,
जड़ में भी जान नयी फूंकी।
आकर सरोष तन गये सभी,
पशु से दानव बन गये सभी ॥१७॥

गुह बोला, "यह अन्याय अरे।
भाई भाई को खाय अरे।
उस पार न भरत पहुंच जावें,
इस पार यहीं गंगा पावें ॥१८॥

घाटों पर बचे न नाव कहीं,
बांसों का न हो लगाव कहीं।
सब ओर लगा दो आग यहाँ,
जायेंगे वे अब भाग कहाँ? १९॥

सब नाके साधो, लड़ो, अड़ो,
बढ़कर सेना पर टूट पड़ो।
वे खा न सकें वे सो न सकें,
वे हँस न सकें वे रो न सकें ॥२०॥

है आज अपंगों की बारी,
देखें सेना कितनी भारी।
हाथी रखता हो शान बड़ी,
ले लेती चींटी जान बड़ी ॥२१॥

पशु भी छेड़े जाकर अड़ते,
भिड़कर हैं घातक से लड़ते।
हम तो नर हैं नर हैं नर हैं,
फिर हम उनसे कम क्योंकर हैं? २२॥

तुम इधर चलो, तुम उधर अड़ो,
हाँ, तुम सीधे ही कूद पड़ो।
विषधारी तीखे तीर चलें,
वैरी की छाती चीर चलें ॥२३॥

हम राम – कृपा से महाबली,
वह मिटा कि जिसने चाल चली।
बढ़ जाओ, बढ़कर वार करो,
बस, उनका बेड़ा पार करो ॥२४॥"

बालक बुड्ढे भी जोश भरे,
बढ़ गये तुरत ही रोष भरे।
कुछ ने झट छेड़छाड़ कर दी,
सेना में कुछ बिगाड़ कर दी ॥२५॥

'जो जन्म जन्म के दास रहे,
वे केवट यों दे त्रास रहे'!
सेना को था आश्चर्य महा,
'कीड़ों ने पंख समूह गहा!!' २६॥

संक्षुब्ध हुए वे क्रुद्ध हुए,
जब देखा निज को रुद्ध हुए।
बोले, "कुमार! न विलम्ब करो,
आज्ञा दो इनके दंभ हरो ॥२७॥

अधनंगों की भी ये चालें,
साम्राज्य-सैन्य से लोहा लें!
जो कीड़ा बिच्छू बन आये,
है उचित कि वह कुचला जाये ॥२८॥

अब भी कुमार! तुम मौन यहां?
है बात सोचनी कौन यहां!"
वे बोले, "सोच बताऊं क्या,
क्रोधी को मैं समझाऊं क्या!! २९॥

जो कार्यों से उलझा करता,
कारण का ध्यान नहीं रखता।
वह लक्ष्य-भ्रष्ट ही होता है,
लड़-लड़कर जीवन खोता है ॥३०॥

कीड़ा तो है यह जीव अधम,
जो प्रभु के पथ में कंटक सम।
तुम प्रभु से मिलने जाते हो,
या लड़ने भिड़ने जाते हो? ३१॥

ठहरो; मैं चला अकेला ही,
तुम चले कि होगा रेला ही।
यदि है ही क्रोध कि रोध करो,
अपनी जड़ता पर क्रोध करो ॥३२॥"

बढ़ गये भरत, पहुंचे सत्वर—
सिगरौर-निवासी रहे जिधर।
उनका मुख शांत ललाम लखा,
लोगों ने उनमें राम लखा ॥३३॥

वह ही तन, तन का रंग वही,
चितवन का मोहक ढंग वही।
क्या कहें न कुछ भी बूझ पड़ा,
क्या करें न कुछ भी सूझ पड़ा ॥३४॥

"मैं भरत, राम का दास खड़ा;
मैं भरत, तुम्हारे पास खड़ा।
भैया की राह बतादोगे?
क्या उनसे मुझे मिलादोगे? ३५॥

उनने की गंगा पार यहां,
तुमसे पाया सत्कार यहां।
तुम उनके बने सहारे हो,
मेरी आंखों के तारे हो ॥३६॥

ये पुरजन परिजन बेचारे,
मेरे दुख में दु:खित सारे।
उनके दर्शन की चाह भरे,
आये हैं उर में आह भरे ॥३७॥

हम सब को पार उतारोगे?
कुछ दुख का भार उतारोगे?"
कानों में जब ये वाक्य पड़े,
वे गड़े लाज में खड़े खड़े ॥३८॥

कुछ दौड़े, गुह से हाल कहा,
वस्तु-स्थिति का नकशा बदला।
ले कंद मूल भर भर दोने,
आया गुह शीघ्र शरण होने ॥३९॥

दूरी से दंड प्रणाम किया,
धीरे से अपना नाम लिया।
बोले सुमन्त, "गुह-राज यही,
आतिथ्य इन्हीं का आज यही ॥४०॥"

गुह का जैसे ही नाम सुना,
आतिथ्य भरत ने कुछ न गुना।
झटपट बढ़ उसको उठा लिया,
अपनी छाती से लगा लिया ॥४१॥

वह ग्लानि-गला, ये प्रेम भरे,
उस छवि का वर्णन कौन करे।
वह खिसका जाता था उर से,
ये जकड़ रहे थे आतुर से ॥४२॥

नयनों से जल की धार बही,
वे बूंद पा हुई धन्य मही।
उड़ गया कहाँ अब मत्सर था,
सिगरौर सेवकों का घर था ॥४३॥

घाटों पर नावें दमक उठीं,
बल्लियां अनेकों चमक उठीं।
नर – नारी दौड़ दौड़ आये,
की प्रणति और दर्शन पाये ॥४४॥

मातायें, गुरुवर, पुर-परिजन,
सब की सेवा में केवट गण।
गुह कहाँ इसे था ज्ञान किसे,
हैं भरत कहाँ, था ध्यान किसे ॥४५॥

उन दोनों के तो नयन सजल,
लखते थे राम-विराम-स्थल।
कोई यदि मिलते चिन्ह कहीं,
गद्गद् हो उठते भरत वहीं ॥४६॥

माथे पर लेते धूल कहीं,
चुनते मुरझाये फूल कहीं।
ले अश्रु उभार कभी उठते,
'श्री राम' पुकार कभी उठते ॥४७॥

यत्नों से इनको बहलाकर,
ले आया गुह गंगा तट पर।
चल पड़ीं लदीं नावें सत्वर,
खेवा वह चला किया दिन भर॥४८॥
+ + +
लघु लघु लहराती लहर लहर,
छल छल छविछाती छहर छहर।
रवि-कर-रंजित झलमल झलमल,
आलोक-भरा गंगा का जल॥४९॥

जल पर नावों की चहल पहल,
हलका कुल कुल कल कल प्रति पल।
पल पल पतवारों की कलमल,
मल-रहित मधुर गंगा का जल॥५०॥

जड़ के जीवन की मूर्ति यही,
पत्थर से उर की स्फूर्ति यही।
प्राकृत चेतन की धार धवल,
भू-प्यार मृदुल गंगा का जल॥५१॥

इस पार सलिल सुखमय शीतल,
उस पार पहुंचने का सबल।
दो पार बंधा छवि-पूर प्रबल,
मंगल का स्थल गंगा का जल॥५२॥

मिलते जिसमें पर और अपर,
देता जो दर्शक को दो पर।
दर्शन ही से शीतल हृत्तल,
दिव्यौषध सा गंगा का जल॥५३॥

दूरी से संगम की झांकी,
कल्पना दिखाती थी बांकी।
भिन्नत्व और एकत्व तरल,
यमुना का जल, गंगा का जल ॥५४॥

संगम था या कि भरत अविकल,
तन एक दूसरा मन निर्मल।
वह गुह यह मुनिवर सित-कुंतल,
यमुना का जल, गंगा का जल ॥५५॥

दो बांहों का मृदु आलिंगन,
मिलते थे मरण और जीवन।
दोनों हरि हर श्यामल उज्वल,
यमुना का जल, गंगा का जल ॥५६॥

वद्ध. जीव ब्रह्म में लीन हुआ,
खोकर अस्तित्व अदीन हुआ।
धुल गया श्याम होकर निर्मल,
रह गया एक गंगा का जल ॥५७॥

\+ + +

धन्य धरा सिरमौर था,
भारत का वह ठौर।
पावन जल किस देश का,
गंगा जल सा और ? ५८॥

पहुंच गये उस पार सभी जब,
भरत हुये विश्रांत-हृदय तब।
भरद्वाज-आश्रम लख आगे,
सब के सब मन में अनुरागे ५९॥

नवम सर्ग

भरद्वाज का पुण्य तपोवन,
करता था प्रयाग को पावन।
विपुल साधनाओं का आलय,
था वह एक विश्व-विद्यालय ॥१॥

देश देश के वटु रहते थे,
शास्त्र-शास्त्र के पटु रहते थे।
जिसके पशु तक शील दिखाते,
खग तक वेद ऋचाएं गाते ॥२॥

एक गॉव था केवट गण का,
एक गॉव था यह मुनिजन का।
कुटियॉ दोनों ओर वनी थीं,
किन्तु विषमताऍ कितनी थीं ॥३॥

वहां झोपड़े ऊवड़ खावड़,
राहें टेढ़ी, कुत्सित, वीहड़।
यहां उटज सम, सुन्दर, सीधे,
स्वच्छ प्रशान्त पथों से वीधे ॥४॥

वहां ठूंठ गृद्धों के घर थे,
कोकिल-कलित यहां तरुवर थे।
वहां श्वान थे सत्ताधारी,
यहां मृगों की क्रीड़ा प्यारी ॥५॥

वहां पेट ही की थीं बातें,
मद्य, मांस, मछली की घातें।
यहां ज्ञान-चर्चा घर-घर थी,
दूध-दही की वही नहर थी ॥६॥

वहां कई थे गदे रोगी,
यहां सभी थे नीरुज योगी।
वहां तमो-गुण स्वय तना था,
यहां सतोगुण दास बना था ॥७॥

घर-घर में ऋषियों की धृति थी,
कण-कण में वैदिक सस्कृति थी।
जिसका अक्षय चिह्न वना सा,
अक्षय-वट का वृक्ष तना था ॥८॥

ज्ञान कर्म की गगा जमना
मिल, दिखलातीं कभी न थमना।
सरस्वती सी भक्ति निराली,
भरती थी दोनों में लाली ॥९॥

श्रम का सच्चा मान वहाँ था,
धन पर नहीं गुमान वहाँ था।
कोई प्रजा, न कोई राजा,
सव में साम्य प्रभाव विराजा ॥१०॥

एक ध्येय पर अड़े सभी थे,
एक लक्ष्य पर खड़े सभी थे।
जो कुछ था समष्टि का वह था,
कहीं न स्वार्थपूर्ण आग्रह था ॥११॥

सब स्वतन्त्र थे निज उन्नति में,
सब सचेष्ट थे अपनी गति मे।
किन्तु सभी निज शक्ति वढ़ाकर,
रचते थे सहयोग परस्पर ॥१२॥

यह सब मुनिवर का तप-वल था,
सीमा लॉघ न पाया छल था।
मुनि ने भूपर स्वर्ग उतारा,
धन्य हुई गगा की धारा ॥१३॥

उस प्रयाग के पावन थल पर,
पहुंचे भरत अवध-दल लेकर।
वटुओं ने जो सैन्य विलोकी,
अपनी उत्सुक आंखें रोकीं ॥१४॥

सब वातों का पता लगाया,
मुनि को आकर हाल सुनाया।
"भरत राम से मिलने जायें,
किन्तु सैन्य लेकर क्यों आये? १५॥"

हुए मौन ध्यानी मुनि ज्ञानी,
और तत्व की तह तक जानी।
बोले, "करो रुचिर पहुनाई,
भरत राम ही के हैं भाई ॥१६॥

सुविधाओं के साज जुटाओ,
थके हुओं को सुख पहुंचाओ।
कल जव अरुण-प्रभा छायेगी;
तुम्हें परीक्षा मिल जायेगी ॥१७॥"

इधर दिवस भर भूमि तपाकर,
बढ़े क्षितिज की ओर प्रभाकर।
बढ़ना था वह या घटना था,
शोषक का जग से हटना था ॥१८॥

पीली पड़ी दिवस की आभा,
ढीली पड़ी विवश सी आभा।
पीले पड़े सूर्य मनमारे,
लाल लाल हो, हटे विचारे ॥१९॥

आँधी दौड़ दौड़ थक आई,
अब उसको कुछ शान्ति सुहाई।
इच्छा थी दिन-ओज समेटे—
दिशा-गृहों में जाकर लेटे ॥२०॥

दिन भर जग का चक्कर खाया,
ध्यान साँझ को घर का आया।
मां के ढिग बच्चों से प्यारे,
खग नीड़ों की ओर सिधारे ॥२१॥

जल पर छाई नीलम छाया,
हुई पूर्व सी शीतल काया।
लहरें अब इतराती आईं,
नये नये रँग लाती आईं ॥२२॥

जमने लगा क्षितिज पर काजल,
थमने लगा जगत्-कोलाहल।
मुँदने लगीं प्रभा की पाँखें,
खुलने लगीं गगन की आँखें ॥२३॥

आंखें खुलीं, बढ़ी अंधियारी,
रजनी का यह कौतुक भारी।
सम्मोहन था उसके स्वर में,
जागी नींद अतः घर-घर में ॥२४॥

संध्या गई, लग गये डेरे,
बसे रेत पर अचिर बसेरे।
इधर, भरत ने छुट्टी पाई,
मुनि-दर्शन की साध समाई ॥२५॥

भरद्वाज के आश्रम आये,
मन-वांछित मुनि-दर्शन पाये।
बोले मुनि, "हो अतिथि हमारे,
कहो करें क्या कार्य तुम्हारे ॥२६॥"

"सेवक हूं मै नाथ! कृपा की,
सुख की चाह न कोई बाकी,
इच्छा एक कि प्रभु फिर आवें,
अपना अवध पुनः अपनावें ॥२७॥

सस्मित मुनि बोले, "मनचाही—
सिद्धि तुम्हारे हाथ सदा ही।
होगा निश्चय यह भी होगा,
जो चाहोगे वह भी होगा ॥२८॥

दृढ़व्रती तुम दृढ़निश्चय हो,
मार्ग तुम्हारा मङ्गलमय हो।
आग्रह रहे सदाग्रह बनकर,
विकृत न बने दुराग्रह बनकर ॥२९॥

कल चाहे प्रस्थान रचाओ,
आज रात्रि आतिथ्य निभाओ।
इस वनथल में भी रह लो कुछ,
तापस के फल-फूल गहो कुछ ॥३०॥"

'जो आज्ञा' कह भरत सिधारे,
मुनि-संकेत न समझे सारे।
'कौन सदाग्रह, कौन दुराग्रह,
क्या इसमें कुछ था मुनि-आग्रह? ३१॥

उनने तो आशिष् ही दी है,
व्यर्थ विकल होता यह जी है।'
यों विचारते डेरे आये,
दृश्य नये ही उनमें पाये ॥३२॥

बना बसेरा नंदन-वन था,
इन्द्र-जाल सा वह छवि-घन था।
ऋद्धि सिद्धियां मानों धाईं,
हाथ बाँध सेवा को आईं ॥३३॥

राजस विभवों के सब साधन,
जन जन का करते आराधन।
थी प्रयाग की अवनी प्यारी,
अथवा अलकापुरी पधारी ॥३४॥

रत्न-खचित से तोरन छाये,
कनक-कलस चहुं ओर सजाये।
जगमग जगमग दीपक-माला,
रजनी में दिन सा उजियाला ॥३५॥

षड्रस-व्यञ्जन-कोष बड़ा था,
हर डेरे में सजा पड़ा था।
सेवा को थीं वे सुन्दरियां,
देख लजा जाती थीं परियां ॥३६॥

हिलीं डाढ़ियाँ वृद्ध जनों की,
बदली दशा अनेक मनों की।
वह मुनि के तप की छाया थी,
अथवा मन्मथ की माया थी ॥३७॥

वह भोजन, वह शयन-सुपासी,
वह सुविधा, शोभन वे दासी।
योग-प्रभाव देख यह भारी,
हर्षित विस्मित थे नर नारी ॥३८॥

खिला चन्द्र नभ में मुसकाता,
सुधा मधुर वसुधा पर छाता।
चमक उठी गङ्गा की धारा,
धवल हुआ दिङ्मण्डल सारा ॥३९॥

छाया और प्रभा भर बाँहे,
लगीं दिखाने अपनी चाहें।
प्रति तरुतल पर छिपा छिपी सी,
चलचित्रों की भांति दिपी सी ॥४०॥

शशिकर पाकर स्वयं सिहरती,
बही बयार उमंग भरती।
उस उमंग का मीठा स्पन्दन,
करता था मानव-मन उन्मन ॥४१

प्रकृति पुरुष दोनों की माया,
मिलीं, भरत को लक्ष्य बनाया।
रम्भा बढ़ीं, उर्वशी धाईं,
फल रसाल नन्दन के लाईं ॥४२॥

सुख-सपनों के जाल सुनहले,
योग भोग के माल सुनहले।
गूंथ-गूथकर खूब लुभाया,
किन्तु न मोह-मुग्ध कर पाया ॥४३॥

घन आये घन गये निराश्रय,
अचल अटल ही रहा हिमालय।
वहुत पतगों ने सिर मारा,
बुझ न सकी दीपक की धारा ॥४४॥

हुई प्रखर ही ज्योति भरत की,
बढ़ी तीव्रता मन के व्रत की।
'राम विपिन में कष्ट उठाये,
और मुझे ये सुख-सुविधायें? ४५॥

मुनि के मन में भी क्या आई,
यह कैसी अद्भुत पहुनाई!
भोगूं ऐसा सिद्ध न योगी,
भागू तो अभद्रता होगी ॥४६॥

माना, तप में त्याग भरा है,
और त्याग में शक्ति महा है।
किन्तु त्याग का भी जो रागी,
वह भी एक भोग का भागी ॥४७॥

व्यञ्जन विष, शय्या है साँपिन,
फिर भी इनको घातक ही गिन।
रात्रि इन्हीं में रहना होगा,
दुःख सभी यह सहना होगा' ॥४८॥

मौन भरत ने जल ही पीकर,
रात बिताई दुख से जीकर।
जिस उर में थे राम समाये,
कहां रमा या रामा आये ॥४६॥

प्रातः बटुओं ने सब जाना,
धन्य भरत का दर्शन माना।
'भोग योग की शक्ति न चाही,
साधु! लक्ष्य के दृढ़ उत्साही ॥५०॥'

शंकाएं सब दूर हो गईं;
तर्क-क्रियाएं चूर हो गईं।
सैन्य न सैन्य बनी जाती थी,
केवल दैन्य-नदी जाती थी ॥५१॥

भरद्वाज मुनिराज मिले तब सबसे आकर—
पूछी सबकी कुशल सरस आदर दिखलाकर।
गुह तक से भी मिले; राम ने जिसे उठाया,
रह सकता था भला कहीं वह आप पराया ॥५२॥

कहां बसे हैं राम: धाम का पता बताया;
चित्रकूट का सरल निकट का मार्ग दिखाया।
कहा राम का हाल; 'भरत थे कितने प्यारे;
भारत-चर्चा हुई कि गद्‌गद राजदुलारे' ॥५३॥

भरत विदा के हेतु विनय से सन्मुख आये,
मुनि ने सादर सभी पाहुने विदा कराये।
बढ़ी वाहिनी विपुल धूल अम्बर में भरती—
'नभ के उर पर एक नयी धरती सी धरती ॥५४॥

सभी का लक्ष्य केवल एक ही था,
यही लगता कि सब में एक जी था।
भरत का हाल पर सब लख रहे थे,
भरत? बस, राम पर रुख़ रख रहे थे ॥५५॥

दशम सर्ग

गहन वन अति भयंकर सामने था—
विपद् का क्रूर आकर सामने था।
कहीं टीले कि जो पथ रोक अटके,
कहीं गड्ढे कि जिनमें लोग भटके ॥१॥

कंटीला पंथ कंकरीला बड़ा था,
कहीं टेढ़ा कहीं सीधा खड़ा था।
कहां ले जाय इसका क्या ठिकाना,
नियति के चक्र सा बीहड़ अजाना ॥२॥

भरी थीं घोर काँटेदार बेलें—
चुभी तो हो गईं सौ पार सेलें।
भरे थे विष भरे तरु-जाल कितने,
भरे हर जाल में जंजाल कितने ॥३॥

किसी तरु के तले भालू छिपा था,
किसी तरु पर भंवर का दल उड़ा था।
इधर यदि बाघ झुरमुट में पड़े थे,
उधर कुछ साँप ही आकर अड़े थे ॥४॥

इसे था मस्त हाथी ने उखाड़ा,
उसे वन-महिष ने दो टूक फाड़ा।
हहरते साल वे भू पर पड़े थे,
मिले अब धूल में जिनके सिरे थे ॥५॥

फलों की बात क्या जल तक न था जब,
मिला तो पंक पीने को मिला तब।
कहीं यदि मिल गया जल स्वच्छ थोड़ा,
उसे था रोग-कीटों ने न छोड़ा ॥६॥

दवानल का बड़ा भय हर कहीं था,
कहाँ पर बाँस का जंगल नहीं था ?
रगड़ से आग लग जाती कहीं जो,
पलों में यमपुरी आती वहीं तो ॥७॥

भरत को किन्तु कब यह ध्यान आया,
परिस्थिति का उन्हें कब ज्ञान आया।
उन्हें तो एक ही था ध्यान मन में—
मिलेगी सिद्धि उनको इस गहन में ॥८॥

विचरते हों समुद श्री राम जिसमें—
रचा हो राम ने निज धाम जिसमें।
अभागा कौन उसको वन कहेगा,
बना वह था बना बनकर रहेगा ॥९॥

न वह समझा गया अगार का घर,
सुहावन था बड़े ही प्यार का घर।
तपस्वी थे लताद्रुम शान्ति धारे,
हृदय-विश्रान्ति के अनुपम सहारे ॥१०॥

पलाशों के न सिर पर दौ लगी थी,
वनस्थल की स्वतः ही लौ लगी थी।
न महुओं के सुमन बन अश्रु टपके,
झड़े थे मस्त हो रस-पात्र तप के ॥११॥

न सेमर लाल मुंह दिखला रहा था,
धरा-अनुराग ऊपर आ रहा था।
न पीली पत्तियों का था कसाला,
हरिद्रायुक्त थी मांगल्य-माला ॥१२॥

टहनियाँ वेग से अपनी हिलाते,
भरत को प्रेम से तरु थे बुलाते।
कि "आओ राम मिलने का यही पथ,
इसी पथ पर फलेगा उर-मनोरथ ॥१३॥"

कड़ा स्थल ही न, कर्कश काल भी था,
कि दिन वह ग्रीष्म का विकराल भी था।
हुआ जल भी अनल; क्या विषमता थी
हुई विपरीत तत्वों की प्रथा थी ॥१४॥

बिना पानी हुई यों जीभ कातर—
कि उस पर सूखकर ही रह गया स्वर।
दिखाई तो दया तनु ने दिखाई—
पसीने की विपुल धारा बहाई ॥१५॥

पसीने से कहीं थी प्यास बुझती,
कहीं इस बूंद से वह त्रास बुझती?
पसीना था न, था वह रक्त अपना,
बचाता देह था बन भक्त अपना ॥१६॥

तवा-सी तप्त धरती तप रही थी,
हवा जल जल व्यथा में कंप रही थी।
लता द्रुम पुंज झुलसे से खड़े थे,
सरोवर तक पिपासाकुल पड़े थे ॥१७॥

प्रलय का दृश्य था हर ओर छाया,
प्रभंजन का प्रबल था रोर छाया।
न फल ही तप्त तरु से टूट पड़ते—
विहग भी हो अचेतन छूट पड़ते ॥१८॥

कहाँ की शत्रुता रवि ने भंजाई,
करों से भूंज कर धरती तपाई।
पनाहें मांगती थी धूल उड़कर,
चली परलोक, माता से बिछुड़कर ॥१९॥

हहरता था क्षितिज हर एक पल में,
जला-सा जा रहा था हर-अनल में।
बवण्डर थे कि जीभें शेष की थीं,
धरा को चीर नभ को छू रही थीं ॥२०॥

द्रुमों ने किन्तु कुछ हिम्मत दिखाई,
सही सब भांति की सिर पर कड़ाई।
सही सन्मुख प्रभजन-खड्ग-धारा,
दिया पर, छाँह को अपना सहारा ॥२१॥

हुई वह छांह जीवन की सहेली,
जिसे पा जन्तुओं ने वृत्ति ठेली।
पड़े थे श्वान खरहे एक थल पर,
मयूरी के तले अहि था दबक कर ॥२२॥

न फिर भी आँधियों ने पिण्ड छोड़ा,
जहां पाया वहीं उनको झकझोड़ा।
विकल लख प्राणियों की जान जाती,
फटी थी भूमि की भी कठिन छाती ॥२३॥

पुकारें सी प्रकृति से आ रही थीं—
शिलाएं तक यही समझा रही थीं—
'हुआ रवि रुष्ट अपने को संभालो;
पथिक! ठहरो; न आगे पांव डालो' ॥२४॥

भरत की तो लगी लौ श्याम घन से;
विकल होते कहाँ वे रवि-किरन से?
परीक्षा आग की दे जा रहे थे,
चले से आग पर वे जा रहे थे ॥२५॥

लगी लू या हवन की आंच आई?
तपन में थी सफलता-ज्योति छाई।
झुलसती धूल जो उड़कर लगी थी—
हृदय के शोध की मृदु सेंक-सी थी ॥२६॥

विषम हो देश काल कि पात्र कोई;
सबल हो या कि दुर्बल गात्र कोई।
प्रबल मन ने दिया कब ध्यान इन पर;
रहा भय-थान भी अभिराम बनकर ॥२७॥

कहां वह तनु सुखों ही में पला जो,
न कोमल पाँवड़े तजकर चला जो।
कहां यह घोर कानन का भटकना,
झुलसते ग्रीष्म के पथ पर अटकना ॥२८॥

नगर का वह विभव राजस न भाया;
कुभोगों का विषम तामस न छाया।
तपोवन की न सात्विकता सुहाई,
बड़ा भाई कि फिर मिल जाय भाई ॥२९॥

न रज का काम, तम का क्रोध आया,
न सत् के लोभ का अनुरोध आया।
त्रिगुण को पार करते जा रहे थे,
त्रिवेणी पार बढ़ते जा रहे थे ॥३०॥

मिली यमुना, विरह में दग्ध श्यामा,
तपस्या मे निरत-सी शान्त क्षामा।
मिले बहुग्राम पुंज विषाद के से,
मिले मैदान सूखे से जले से ॥३१॥

न कोई भी उन्हें ठहरा सका कुछ,
न कोई चित्त में भी आ सका कुछ।
चले ही जा रहे थे, जा रहे थे,
बढ़े ही जा रहे थे, जा रहे थे ॥३२॥

शरण जिनकी उन्हीं-सा हो गया मन,
उन्ही के पन्थ का था पान्थ जीवन।
गये जिस पथ से श्रीराम प्यारे,
भरत ने कब वहाँ कटक निहारे ॥३३॥

तजे वाहन, उपानह तक न पहने,
कहां छाता, कहाँ फिर और गहने।
चले जिस भूमि पर श्रीराम पैदल,
उचित था पार हो वह सीस के बल ॥३४॥

बहुत है जो चरण रख जा रहे थे,
इसी में वे बहुत शरमा रहे थे।
मनाकर थक गये उनको सभी जन,
किया जो स्थिर अडिग उस पर रहा मन ॥३५॥

पड़े छाले व्यथा के अश्रु धारे,
सहारा दे रहे काँटे बिचारे।
धरा करुणार्द्र थी वे बूंद पाकर,
उसासें ले रही उनको छिपाकर ॥३६॥

भरत को निज दशा का भान कब था,
उन्हें निज देह का अभिमान कब था?
धरा पर पद संभलते जा रहे थे,
भरत जी किन्तु चलते जा रहे थे ॥३७॥

विकल ग्रामीण थे उनको निरख कर,
विचल थे राम की प्रतिमूर्ति लखकर।
अदेखे देखकर भी जा रहे थे,
भरत चलते चले ही जा रहे थे ॥३८॥

❀ ❀ ❀ ❀

"कहूं वह क्या कि भैया मान जावें,
अवध उजड़ा हुआ फिर से बसावें।
मुझे सेवक समझ अपनायंगे वे,
कि लोभी जान दूर हटायंगे वे?३९॥

अड़ूंगा, बस, चरण पकड़े रहूंगा,
हटूंगा मैं न जब तक 'हाँ' सुनूंगा।
सहायक माँ, सहायक गुरु सभी हैं,
निठुर? ना; इस तरह भैया नहीं हैं ॥४०॥

मुझे क्या दूर से दुत्कार देंगे—
प्रणति का भी न क्या अधिकार देंगे?
न पापी हूँ, भले ही हूँ कलंकी,
हृदय! क्यों हो रहा है पाप-शंकी ॥४१॥

न खुलकर मैं कभी कुछ बोल पाया,
न उर की भावनाए खोल पाया।
वहाँ कुछ ज़ोर देकर कह सकूंगा?
मुखर ही किस तरह मैं रह सकूंगा ॥४२॥

हृदय में उठ रहे तूफ़ान जितने,
मचाते धूम हैं अरमान जितने।
सजग क्या उस समय भी साथ देंगे,
मुझे जब प्रेम से रघुनाथ लेंगे ॥४३॥

संभालूंगा कि कुछ तो बोल पाऊं,
सभालूंगा कि सुख अनमोल पाऊं।
विधे! क्षत्रिय बना तेरा भिखारी,
मुझे दे शक्ति, कह लूं बात सारी ॥४४॥"

इसी विध सोचते से जा रहे थे,
अजाने पंथ से वे जा रहे थे।
हृदय में एक निष्ठा, एक व्रत था,
समूचा चित्त ही श्री-राम-रत था ॥४५॥

बढ़े प्रभु के चरण पर वृत्ति देकर,
बढ़े निज चित्त का सब दैन्य लेकर।
मगर वह दैन्य दृढ़ता पर अड़ा था,
भरा जिसमें प्रशम-सागर पड़ा था ॥४६॥

+ + +

सभी को गुह संभाले चल रहा था,
भरत का दुःख उसको खल रहा था।
कभी चढ़ सैन्य सकल विलोक लेता,
भरत ही को कभी था रोक लेता ॥४७॥

मिला स्थल एक कुछ शीतल मनोहर,
भरत रोके गये, निकला मधुर स्वर।
"सखे! देखो वहां कुछ चिह्न ऐसे,
रमे श्री राम' हों कुछ काल, जैसे॥४८॥

अरे, देखो इधर देखो इधर तो,
कनक के बिन्दु झलके हैं यहां दो।
अड़ी भी मालिका है क्लान्त छीजी,
थमीं निश्चय यहां श्री जानकी जी॥४६॥

विषम पथ में थकी होंगी बड़ी वे,
कि पल भर रह गई होंगी खड़ी वे।
लखन ने देख वह, सुस्थल संवारा,
सफल सेवक हुआ सब भांति प्यारा॥५०॥

बड़े थे भाग्य उसके जो रहा घर,
अभागा मैं, सहे हिम और पत्थर।
न मै केकय दिशा की ओर जाता,
अवध का वध न होने हाय! पाता॥५१॥

भटकते हैं अवध के प्राण वन में,
सहारे को खड़े पाषाण वन में।
कहां राजस-विभव साकेत के सुख;
कहां इस घोर वन के घोर वे दुख॥५२॥

मधुरता भी मधुर जिनसे हुई थी,
धरित्री धन्यतर जिनसे हुई थी।
कहा "सीता" कि कहना ही रहा क्या,
उन्हें सहना पड़ा होगा न क्या क्या? ५३॥"

हुए वे बात करते भाव-विह्वल,
पुलक तन पर दृगों में भर गया जल।
रखा माथे कि जो दो बिन्दु पाये,
वहाँ दो सौ नये दृग से गिराये ॥५४॥

\+ + +

बढ़े आगे, विकल हो छट-पटाते,
चले वे मद्यपी से लटपटाते।
उठी प्रति रोम से श्री राम की धुन,
परम विरह-व्यथा विह्वल जिसे सुन ॥५५॥

थमी आँधी, विलखते वृक्ष डोले,
शिलाओं पर उठे दुख के फफोले।
गिरा खग के मुखों से आप चारा,
मृगों तक ने बहाई अश्रुधारा ॥५६॥

प्रबल है अति प्रबल उर की स्व-वाणी,
प्रभावित है सदा हर एक प्राणी।
करोड़ों तर्क जिनको छू न पाये,
अकेली आह ने वे व्यूह ढाये ॥५७॥

भरत ने जो बहाई प्रेम-धारा,
बहा उसमें विवश हो विश्व सारा।
न केवल भरत आगे जा रहे थे,
अनेकों जीव साथ बढ़ा रहे थे ॥५८॥

विरह होता न होती तीव्रता यों,
किसे अनुराग का मिलता पता यों?
स्वय विष पी सुधा जग को पिलाई,
भरत ने थी नई गंगा बहाई ॥५९॥

मिले छींटे, हुआ पावन धरातल,
पवन शीतल हुआ, नभ नील निर्मल।
अनल जिसको अभी झुलसा रहा था,
वहाँ रस का सघन घन छा रहा था॥६०॥

परिस्थिति जो विषम प्रतिकूल सी थी,
वही सब भांति अब अनुकूल सी थी।
हुआ वह पथ भरत के हेतु जैसा,
सुना, था राम के हित भी न वैसा॥६१॥

+ + +

बढ़े, मंजिल अनेकों पार करते,
कहीं रुकते, कहीं अभिसार करते।
स-दल पहुंचे भरत दो दिन बिताकर,
जहां था चित्रकूट ललाम गिरिवर॥६२॥

लगन जिससे लगी वह सिद्धि पाई,
गये ये, या स्वतः वह पास आई।
सफल तप हो गया, वह धाम पाया—
कि जिसने था उन्हें इस विध बढ़ाया॥६३॥

अत्रि मुनीश्वर का तपवन वह,
अनसूया का उज्ज्वल धाम।
राम-विराम-स्थल लख गद्गद,
किया भरत ने दण्ड प्रणाम।
शक्ति भक्ति की मन्दाकिनियाँ—
संगत हुई वहाँ इस तौर।
ऊंचा उठा प्रयाग-स्थल से
चित्रकूट का पावन ठौर॥६४॥

देखी सी उनने पर्ण-कुटी मन-भाई,
पाई सी मानों राम-छटा छवि छाई।
हो गई चित्त की वृत्ति विभोर ठगी सी,
खो गये वहीं जड़ भरत समाधि लगी सी ॥६५॥

एकादश सर्ग

सन्ध्या से छाया व्योम, सेन से जंगल,
बातें कहते लग गये शिविर, लख समथल।
रजनी में बैठक एक जमी कोसल की,
छाई, बस, चर्चा एक भविष्यत् कल की ॥१॥

"इस ओर राम के हेतु सभी साधक हैं,
उस ओर नृपति-वरदान बड़े बाधक हैं।
दोनों बातें सध जायँ कौन वह पथ हो,
कल की चर्चा का अहो, कहां से अथ हो ॥२॥"

बोले वशिष्ठ, "वह भवन वनों सा ऊना,
परिजन स्वजनों से हीन रहे जो सूना।
सूना कर नृप-प्रासाद विपिन हम जावें,
यों उसे राम के योग्य निवास बनावें ॥३॥

दण्डक था रवि-कुल-राज्य अवध सा सुन्दर,
खाई अभिशाप-चपेट बना वन दुर्धर।
वह पुनः नगर बन जाय, अयोध्या वन हो,
वन बन कर फिर इस भांति पवित्र सदन हो ॥४॥

सर्वस्व त्याग के विना कहाँ प्रभु मिलते,
सच्चे विराग के विना कहाँ विभु मिलते।
जब तक न राग रह सका विराग-बँधा है,
तब तक कब शुचि अनुराग अनर्घ्य सधा है ॥५॥

चौदह वर्षों तक अवध रहे दण्डक सा,
दण्डक हो अवध-निकेत समृद्धि-जनक सा।
कैसा हो यदि प्रस्ताव करें हम ऐसा ?"
देखा मुनि ने, है भाव भरत का कैसा ॥६॥

खिल उठे भरत, कह उठे, "अहा ! सुन्दर हल !
निश्चयपूर्वक, बस, यही रहे चर्चा कल।
प्रस्तुत हूं मै वन हेतु, राम फिर जावें,
हम लोग यहीं बस जायँ, यहीं सुख पावें ॥७॥"

गद्गद मुनि बोले, "धन्य ! एक पथ सूझा।
हम सबने सुन्दर मर्म तुम्हारा बूझा।"
बोले सुमन्त, "मुनिवर्य ! आप सद्ज्ञानी;
सबको हितकर हो, बात वही सुखदानी ॥८॥

जो उचित समझिये, वही राम से कहिये,
हैं सब विध आप समर्थ, अवध दुख दहिये।
हमको तो प्रतिपल कल्प सदृश है बीता—
चौदह वर्षों की रही अभी भी गीता ? ९॥"

माताएं बोलीं, "थाह टटोली मुनि ने,
की सी है केवल एक ठठोली मुनि ने।
है यही विनय वे स्वतः उन्हें समझायें,
जिससे रघुनन्दन आप अवध फिर आयें ॥१०॥"

बोले मुनिवर, "इस बार भरत हों नेता,
चर्चा के वे ही रहें गभीर प्रणेता।
हम सब थे समझा चुके, युक्ति थी हारी,
सत् आग्रह में इस बार भरत की बारी ॥११॥"

सबको यह निर्णय मान्य रहा उस थल पर,
सबने कुछ किया विराम ध्यान रख कल पर।
बीती कैसी वह रात, भरत ही जानें,
कवि की मति किस विध आज आह! अनुमाने ॥१२॥

ज्यों त्यों कर ब्राह्म मुहूर्त निकट जब आया,
गुह और बन्धु को आप तुरन्त जगाया।
कामद गिरि पर चढ़ चले उमंगें छाते,
वर भक्त भरत वर भक्ति-मार्ग अपनाते ॥१३॥

प्रति पद पर दण्ड प्रणाम, पूत रज माथे;
प्रति पुलक परम करुणार्द्र अश्रु से गाथे।
प्रति अङ्गों में वह विरह-तीव्रता आई,
प्रति धमनी में थी राम-राम ध्वनि छाई ॥१४॥

जो थी दर्शन की चाह, शरण की आशा,
जो थी तदीयता हेतु अटल अभिलाषा।
लय हुई ध्यान में सभी, हुआ यों एका,
हो गया श्याम-घन ही मयूर का केका ॥१५॥

लय में लय ऐसे हुए कि भरत कहाँ थे,
अब रमे राम ही राम रसाल वहाँ थे।
आंखों के आगे रूप सत्य वह छाया,
कामद-गिरि-स्वामी स्वतः वहां था आया ॥१६॥

पथ पर बढ़ता हो भक्त, अडिग हो स्वामी?
निष्ठुर है इतना कभी न अन्तर्यामी।
यह कैसे होगा, भरत वहां तक आयें—
श्री राम न आगे बढ़ें न यों मिल जायें !!१७॥

कोलों ने दी थी रात सूचना आकर,
प्रिय बन्धु हेतु, चल पड़े स्वतः करुणाकर।
थे बिम्ब और प्रतिबिम्ब परस्पर सन्मुख,
अवनी अम्बर में उमड़ पड़ा सुख ही सुख ॥१८॥

"भैया भैया" कह उभय भुजाए फूलीं,
वक्षस्थल चिपके, कसी लतायें झूलीं।
मन बुद्धि अहं तक एक हुए घुल-मिल कर,
थी एक नीलिमा शेष, कहाँ कुछ अन्तर ॥१९॥

गिरितरु पर थे जो दो सुपर्ण मन भाये,
थे रूप-रंग में एक, विभिन्न कहाये।
वह कहाँ भिन्नता गई, एक ही वे थे,
सद्ज्ञान-उषा में तत्व दृगों ने देखे ॥२०॥

जगमग जगमग जग हुआ, प्रभा यों पाई,
द्विजगण ने जय जय युक्त प्रभाती गाई।
भू की प्रीति-स्फीतियां सुमन मिस छाईं,
रवि-किरणें आशीर्वाद गगन का लाईं ॥२१॥

शत्रुघ्न और गुह रहे देखते वह छवि,
जो अकथ, कहे किस भांति भला वह छवि कवि।
जिस रस के कन में डूब गया मन तक था,
रसना का रस-ना नाम वहीं सार्थक था ॥२२॥

रस-धाराओं सी वहीं अश्रुधाराए,
जिनकी बूंदों में वहीं करोड़ व्यथाएं।
इनमें चरणों की चाह, उन्हें उर प्यारा,
दोनों को जकड़े पड़ी करों की कारा ॥२३॥

था विनय प्रणय में, था कि देह में मन था,
उन दोनों का वह मिलन अपूर्व मिलन था।
वे रहे अचल से अचल, चले रवि नभ पर,
घड़ियों पर बीती घड़ी, हुआ दिन खर-तर ॥२४॥

कुछ थमा भाव तब शिथिल हुए भुज-बंधन,
भाई से गुह से मिले शीघ्र रघुनंदन।
बोले, "कुटिया है निकट, लखन सीता को,
जो मिलनोत्सुक हैं, उन्हें, चलो दर्शन दो ॥२५॥"

अनुकरण मात्र था सार भरत के मन में,
थी वह तदीयता व्याप्त मधुर जीवन में।
श्री राम जिधर ले जायं उधर ही जाना,
प्रत्येक स्नायु ने स्वतः आप पहिचाना ॥२६॥

सब के सब पहुंचे शीघ्र जहाँ कुटिया थी,
लक्ष्मण का जिसमें ओज, प्रभा सीता की।
अनुराग-तरंगें उभय दिशा से धाईं,
रस-सागर का नवपूर धरा पर लाईं ॥२७॥

चरणों पर लकुट समान भरत विह्वल थे,
सिर पर सीता के हाथ परम-कोमल थे।
कानों को आशीर्वाद मिला मन-भाया,
उन शब्दों में क्या क्या न भरत ने पाया ॥२८॥

यों सानुकूल लख उन्हें व्यथाएं भागीं,
गल गईं ग्लानियां, शान्ति-राशियां जागीं।
उमड़ा आनन्द-प्रवाह, अश्रु बन छाया,
जो अर्घ्य पाद्य हो गया आप मन-भाया ॥२९॥

लक्ष्मण को लिपटा लिया प्रेम से, बोले,
"भैया, तुमने साफल्य-द्वार निज खोले।
सेवा का यह सौभाग्य भाग्य क्या देगा?
मुझको भी तुम सा कभी प्रसाद मिलेगा? ३०॥"

लक्ष्मण बोले, "क्या भेद आप में मुझ में,
प्रभु देखा करते सदा आप को मुझ में।
उनकी इच्छा का उभय उरों में घर है,
हैं आप वहाँ, मै यहाँ यही अन्तर है॥३१॥"

गुह बोला, "सच ही कहा; राम की सेवा,
इसमें ही है, हो सदा ग्राम की सेवा।
प्रभु ही बोले थे भक्त भक्त कब कम हैं,
जन-भक्त जनार्दन-भक्त सदा ही सम हैं॥३२॥"

बोले शत्रुघ्न कि "मुझे भक्त की सेवा,
देती रहती है सदा सुधोपम मेवा।"
प्रभु बोले "चारों एक; रुचिर सहयोगी;
योगी होकर वे रहें कि होकर भोगी॥३३॥

पर चतुर लखन-शत्रुघ्न एक भी होकर,
दो बने, और दो बांट लिये अपने घर।
यदि सेवा का यह भार न युगल उठायें,
घर के वन के गार्हस्थ्य सभी ढह जायें॥३४॥"

सीता ने पलटी बात, "विपिन-भोगों में,
जो स्वाद, मिला कब भवन-भोज-योगों में।
आओ स्वादिल जलपान करो रस-साना,
लाला! फिर वार्त्तालाप ठने मनमाना॥३५॥"

"जो आज्ञा" कहकर भरत बढ़े झट आगे,
बोले "हम सब हैं पांच;" हृदय-अनुरागे।
बोलीं सीता "डर नहीं, अन्नपूर्णा माँ,
पचों के हित के लिये सदा पूर्णा माँ॥३६॥"

गुह बोला, "है सौभाग्य पाँचवाँ जो मैं;
बनचर हूं इससे आतिथेय ही तो मैं।
साकेत-निवासी सभी अतिथि हों मेरे,
माँ आज्ञा हो, हों सुखी आपके चेरे॥३७॥"

उन सबका आया ध्यान, भरत जी बोले,
"पुरजन स्वजनों की चाह पूर्ण प्रभु! हो ले।
माताएं आईं और मुनीश्वर आये,
जो आज्ञा हो वह कार्य किया अब जाये॥३८॥"

कार्यक्रम पलटा शीघ्र "भूल उफ इतनी।
हो रही न होंगी उन्हें व्यथाएं कितनी।"
ज्येष्ठों ने झटपट शिविर-भूमि वह ताकी,
बस, थे सीता-शत्रुघ्न, कुटी में बाकी॥३९॥

उस ओर भरत की राह देखते थे सब,
पथ को भरकर उर-चाह देखते थे सब।
विह्वलता जब बढ़ गई, उन्होंने देखा—
पथ पर चारों की एक प्रभामय रेखा॥४०॥

आये न भरत ही, साथ राम को लाये,
पाये सबने दृगलाभ, सभी मन-भाये।
आनन्द-तरंगे बढ़ी पूर वह छाया,
जन जन में जीवन स्रोत नया भर आया॥४१॥

मुनिवर से रघुवर मिले, मिलीं माताएं,
वत्सों को पाकर कुलक उठीं वे गायें।
कौसल्या ने सिर सूंघ उन्हें जब छोड़ा,
कैकेयी ने आश्लेष अमिट सा जोड़ा ॥४२॥

धर धर आँसू की धार बहाई सिर पर,
अवरुद्ध हो उठा कंठ सिसकियां लेकर।
अपनी ऊष्मा में आप जली जाती थी,
स्थिर थी पर फिर भी बही चली जाती थी ॥४३॥

थामे रघुवर के हाथ, भरत को पकड़ा,
फिर पुनः राम को हृदय लगाकर जकड़ा।
फिर रखा भरत का हाथ राम के कर में,
सिसकी ले बोली पुनः दैन्यमय स्वर में ॥४४॥

"तुमको वन भेजा अहह! हुई मैं वन्या,
तुम गहो भरत का हाथ बनूं मैं धन्या।
तुम एक बार 'मा' कहो लाल! बलि जाऊं,
मैं जो कुछ हूं, खो चुकी पुनः वह पाऊं ॥४५॥"

"मैं पुत्र और तुम सदा दुलारी मैया,
हूं धन्य कि मुझको मिला भरत सा भैया।"
यह कहकर छूटे राम, बहुत समझाकर,
"आदेश करो मां, मिलूं सभी से जाकर ॥४६॥"

ललकी छोटी मां, राम गिरे चरणों पर,
बाहर देखा, थे बाट जोहते मुनिवर।
मन्त्रियों सहित थे श्रेष्ठ नागरिक धाये,
क्षण में प्रभु सबसे मिले और सुख छाये ॥४७॥

प्रमुखों को ले वे बढ़े, कुटी तक आये,
सीता ने दर्शन पूज्य जनों के पाये।
कुछ ही क्षण में आनन्द व्यथा में पलटा,
सम्मिलन समूचा करुण-कथा मे पलटा ॥४८॥

माताओं का वह रूप लखा सीता ने,
देखा दवाग्नि-वैषम्य मृगी भीता ने।
मुनि ने तब अवसर देख बात वह छेड़ी,
जो अड़ी हुई थी हृदय-मध्य बन बेड़ी ॥४९॥

सुनकर भूपति का निधन, दुःख से व्याकुल,
हो उठे राम रघुनाथ परम करुणाकुल।
सीता-लक्ष्मण के सग मंडली सारी,
हो गई व्यथा में व्यथित, गाज सी मारी ॥५०॥

मुनि ने यद्यपि आख्यान अनेक सुनाये,
कब उद्बोधक वे तर्क हृदय को भाये?
आये जब भाव-प्रवाह शोक घहराये,
अच्छा है वह चुपचाप आप बह जाये ॥५१॥

सुर-सरिता के तट सभी गये दुख-कातर,
दी वहाँ तिलांजलि और फिरे दुख से घर।
सबने निरम्बु व्रत किया और दिन बीता;
हा! कठिन काल को कहां किसी ने जीता ॥५२॥

दिन बीते क्रमशः शोक थमा, दिन बीते,
मन मे ही दबके रहे भाव मनचीते।
थे मौन भरत किस भांति प्रसग उठायें,
थे मौन राम किस भांति उन्हें लौटायें ॥५३॥

दोनों में था संकोच भरा यों भारी,
जिह्वाओं ने थी आप अचलता धारी।
दोनों के मन के भाव विदित दोनों पर—
फिर भी था दृढ़ ही मौन उभय कोनों पर ॥५४॥

किस तरह भरत की बात राम टालेंगे,
किस तरह राम-संकल्प भरत पालेंगे।
दोलाधिरूढ़ थी वृत्ति कौन क्या बोले,
डोले तो केवल भरत रामहित डोले ॥५५॥

"सेवक वह क्या जिससे कि दुखित हो स्वामी,
जो निज हठ पर ही रहे महा वह कामी।
प्रभु की इच्छा का तार न उर से टूटे,
सान्निध्य-लाभ क्यों भरत न कुछ दिन लूटे ॥५६॥

सम्भव है प्रभु ही स्वतः विचार बदल दें,
सम्भव है जगपति मूक स्वरों में बल दें।
सम्भव है तब तक बुद्धि नया पथ पावे,
जिस पर चढ़कर सब सुलझ समस्या जावे ॥५७॥"

प्रभु का दर्शन नित प्रात, मधुर वे बातें,
दिन में वन का विश्राम, मनोहर रातें।
वन्यों का सेवा-भाव, प्रेम मुनियों का,
सबने मिल सबको स्नेह सहित था रोका ॥५८॥

मिला था जो प्रभु का सान्निध्य,
उसी में मस्त हुए थे लोग।
नित्य था गिरि कानन संचार,
नित्य ही नव प्रमोद के योग।

मिलेगा जीवन का विज्ञान,
भरत को निश्चय आगे आप।
स्वजन—सम्मेलन में था व्याप्त,
अभी तो उनका कार्य-कलाप ॥७९॥

———

द्वादश सर्ग

सुनी दूतों के मुह से बात,
बढ़े हैं भरत सेन के साथ।
"भरा है इसमें कौन रहस्य?"
हुए चिन्तित विदेह नर-नाथ।
"राज्य का लोभ पाप का मूल,
गृह-कलह है नृप-कुल का शूल,
समय रहते हो उचित प्रयत्न,
कहीं हो जाय न विषधर भूल॥१॥

अवध में हुई एक जो भूल,
व्यथित है उससे लोक-समाज।
कहीं वन में न दूसरी भूल,
गिरे सबके सिर बनकर गाज।
विज्ञ वह जो कि कार्य के पूर्व,
समझ लेवे समग्र परिणाम।
रहेगी आजीवन उर-दाह,
विगड़ जो गया कहीं कुछ काम॥२॥

सुना है, चारों अवध कुमार,
परस्पर रखते हैं शुचि प्यार।
किन्तु क्या क्या न यहां कर सका,
मान, धन, धरती का अधिकार।
करूंगा यत्न कि जिससे बन्धु,
बन्धु के प्राण न लेवे छीन।
किन्तु यदि युद्ध हुआ अनिवार्य,
राम ही क्यों हों सैन्य-विहीन ॥३॥"

चले मिथिलेश विपिन की ओर,
सदल बल करते यही विचार,
और साकेत-शिविर आगये,
मंजिलें करके झटपट पार।
स्वजन जब मिले, उदासी बढ़ी,
और छाया वह हाहाकार।
इसी क्षण मानों दशरथ गये,
भूमि तज अमरपुरी के द्वार ॥४॥

भरत को एक दृष्टि से देख,
सत्य का किया सत्य अनुमान।
सुना कैकेयी पश्चात्ताप,
हुए वे मन में मुदित महान।
जुड़ी फिर सभा कि क्या करणीय,
भरत तो साध रहे हैं मौन।
जनक के सिवा यहां अब और,
राम से छेड़े चर्चा कौन ? ५॥

जनक ने कहा कि "निज वरदान,
दिये जब कैकेयी ने छोड़।
मुझे जँचता है कभी न राम,
सकेंगे उनकी आज्ञा तोड़।
पिता से माता का है स्थान,
सभी विध ऊँचा महिम महान।
राम ने पितृ-भक्ति को दिया,
आज दें मातृ-भक्ति को मान ॥६॥"

किया कैकेयी ने स्वीकार,
जोश में आकर तो उस ठौर,
किन्तु फिर चला हृदय में आप,
विविध सी शकाओं का दौर।
"राम हैं सत्य-सध सब भांति,
हुआ क्या यदि हैं मेरे लाल।
करूंगी यत्न, करूगी यत्न,
हृदय। अपने को आज संभाल ॥७॥"

गईं वे सीता जी के पास,
कि वे भी अपनी बनें सहाय।
मिलीं वे लक्ष्मण से चुपचाप,
कि उनसे ही स्वीकृति मिल जाय।
महत्पुरुषों की महिमा खूब,
कुसुम से मृदु पवि तुल्य कठोर।
चकित है माता भी आश्चर्य,
करे सुत को कैसे निज ओर ॥८॥

उधर; कर जनक-राज से भेंट,
फिरे जब निज कुटिया को राम।
भरत ने पथ में पा एकान्त,
छेड़ दी अपनी बात ललाम।
प्रणति पूर्वक पूछा, ज्यों शिष्य,
"प्रभो, क्या है जीवन का मर्म,
इधर है हृदय उधर मस्तिष्क,
इधर है प्रेम उधर है कर्म ॥६॥"

एक पल हुए मौन श्री राम,
निहारे मन के सारे भाव।
भरत का कर पकड़ा सस्नेह;
कंठ से उँमगा उर का चाव।
निकट थी घने वृक्ष की छाँह;
जहाँ थी पड़ी शिला अभिराम!
उसी पर होकर सुख-आसीन;
लगे कहने यों तत्व ललाम ॥१०॥

"गहन तम में चेतन का स्फोट;
शून्य में खिला रुचिर संसार।
निमित्तों ने देखा दिक्काल;
गगन में भूले तारक-हार।
तारकों में वसुन्धरा भरी,
भरे सागर वन पर्वत पुंज।
मनुज के बिना किन्तु, बस, रही,
निपट सूनी सी वसुधा-कुंज ॥११॥

सागरों मे थे मत्स्य विचित्र,
वनों में थे खग मृग अभिराम।
व्योम के लोकों में थे देव,
न जिनको जरा-मृत्यु से काम।
किन्तु जब नर ने किया प्रवेश,
बाल-वपु में विभ-तत्व समेट—
हो गई अखिल चराचर सृष्टि,
एक उसके चरणों पर भेट ॥१२॥

देखने ही को वह संकीर्ण,
विपुल है उसके 'स्व' का प्रसार।
देह तक मृत्यु, जीव तक बन्ध,
असीमित आत्मा का अधिकार।
वही दासोह सोह वही,
वही है असह एक ओंकार।
उसी के देव बन गये दास,
उसी के हेतु सृष्टि-व्यापार ॥१३॥

वही शासित है बनकर व्यक्ति,
वही शासक है बनकर राष्ट्र।
उसी में है अन्तर् - राष्ट्रीय,
बन्धनों से छन छन कर राष्ट्र।
सभी रंगों में एक असंग,
कहाँ गोरे काले का भेद।
वही शिव-सुन्दर-सत्य महान,
उसी की महिमा में रत वेद ॥१४॥

अमिट उसका अस्तित्व विशाल;
काल क्या कभी हो सका वक्र ?
खड़ा वह 'यथा पूर्व' है वहाँ;
लाँघ कर सृष्टि प्रलय के चक्र।
भले ही कुछ देहें मिट जायं,
भले ही कुछ बुद्बुद हों लीन।
किन्तु है अचल अटल सब भाँति;
मनुज-रत्नाकर अघट अहीन ॥१५॥

व्याकरण अक्षर का जब हुआ;
धूल पर छाया उसका स्नेह—
हुआ तब उसका ही प्रतिबिम्ब,
एक जीवन ले मनुज सदेह।
मनुज के जीवन का है मर्म,
मनुजता ही का हो उत्थान।
मनुजता में समृद्ध अमरत्व;
मनुजता में अग जग की तान ॥१६॥

मनुजता की यह देख समृद्धि,
सुरों के सहमे शासन-तंत्र।
मनुज की देहों से मिल किया;
मनुजता के विरुद्ध षड्यन्त्र।
सहायक ही होना था जिसे;
दिखाने लगी वही स्वामित्व—
अनश्वर ही अपने को मान;
उठा नर का नश्वर व्यक्तित्व ॥१७॥

दब गया प्रेम, दबा सत्कर्म,
रह गई काम क्रोध की बात।
ध्येय हो उठे विहाराहार,
उभय के मूल द्रव्य—संघात।
द्रव्य-संघात। द्रव्य-संघात!!
छा गया सिक्कों का वह जाल—
कौड़ियों पर ही लुटने लगे,
करोड़ों मनुजों के कंकाल ॥१८॥

कई निर्धन कुटियाँ कर चूर,
धनी का उठा एक प्रासाद।
अनेकों को दे दृढ़ दासत्व,
एक ने पाया प्रभुता-स्वाद।
विपुल गृह या कि गृहिणिया छीन,
किसी ने साधी अपनी सिद्धि।
किसी ने भरकर ईर्ष्या द्वेष,
बन्धुओं की की दग्ध समृद्धि ॥१९॥

संघ की शक्ति बन गई आप,
व्यक्ति की शक्ति गई जब हार।
बढ़े राष्ट्रों के भीषण संघ,
बढ़ाने को यह अत्याचार।
व्यक्ति या राष्ट्र कि जिनमें रहा,
द्वेष मूलक ही कार्य-कलाप—
उन्हीं को पाकर फूला फला,
मनुजता-मारक मोहक पाप ॥२०॥

कहीं ब्राह्मण क्षत्रिय में वैर,
कहीं क्षत्रिय क्षत्रिय संग्राम।
कहीं है आर्य अनार्य विरोध,
लुट गये मानवता के धाम।
कभी जो पुण्य-श्लोक महान;
विदित था जग मे आर्यावर्त्त।
आज वर्वरता से आक्रान्त,
गिरा वह ही दुःखों के गर्त ॥२१॥

तुम्हें क्या विदित नहीं लंकेश;
कि जिसने भर सुवर्ण भरपूर—
न भर पाया है अपना लोभ,
न कर पाई है तृष्णा दूर।
दक्षिणापथ के 'वा-नर' किये
संधि सी रचकर नर से भिन्न।
तपवनों को कर पीड़ित पूर्ण,
आर्य-संस्कृति कर दी विच्छिन्न ॥२२॥

उसे चाहिये विपुल साम्राज्य,
उसे चाहिये अनेकों दास।
उसे चाहिये राक्षसी वृद्धि,
वृद्धि के हेतु विश्व-आत्रास।
वृद्धि के तारतम्य का किन्तु,
कहाँ जाकर होगा अवसान।
प्रयत्नों की उमंग में आज,
कहां है उसको इसका ध्यान ॥२३॥

मनुजता रही कराह कराह,
आह ! है कौन पूछता हाल।
राक्षसी चक्की में पिस रहे,
मनुजता के जर्जर कंकाल।
यही आदेश कि 'पशु से रहो,
रहे पर गड़ी दासता-गाँस।
सहो, पर, देखो, बहें न आँस,
जियो, पर, चले न लम्बी साँस ॥२४॥'

किये जिन देवों ने षड़यन्त्र,
उन्हीं पर अब उसका अधिकार।
बना विज्ञान देह का दास,
कौन फिर नर से पावे पार !
इन्द्र हैं थके, वरुण हैं थके,
थकी है यम-कुवेर की शक्ति।
हटा सकता है वह आतंक,
मनुज के बिना कौन अब व्यक्ति !॥२५॥

अकेला रावण क्यों इस काल,
अनेकों खर दूषण के वृंद,
कुचलते चलते वन मातंग,
मनुजता के कोमल अरविंद।
अनेकों देख रहे ऋषिवृन्द,
न कोई चलता किन्तु उपाय।
महा भीषण यह अत्याचार,
मनुज मनुजों ही को खा जाय !॥२६॥

मनुज में शक्ति, मनुज में भक्ति,
जनार्दन का जन है अवतार।
वही जन यदि ले मन में ठान,
'ध्वस्त हो जाये अत्याचार!
फूंक देती है दुर्गम दुर्ग,
दग्ध उर से जो उठती आह।
करोड़ों वज्रों सी दुर्दम्य,
मनुजता की वह अन्तर्दाह ॥२७॥

मनुज जीवन का यह ही मर्म,
आह की गहराई ले जान।
मनुजता की रक्षा के हेतु,
निछावर कर दे अपने प्राण।
जगायेगा जन जन में भरी,
मनुजता को जो मनुज महान।
विश्व-रक्षा हित उसमें शक्ति,
भरेंगे विश्वम्भर भगवान ॥२८॥

जगद् रक्षा के व्रत में सदा
रहा है सूर्यवंश विख्यात।
निभाता गया अभी तक यहाँ,
एक ही वीर एक यह बात।
विधाता की इच्छा से आज,
बन्धु! हम एक नहीं, है चार।
दिशाएं चारों होंगी सुखी,
सभाले यदि कन्धों पर भार ॥२९॥

वहाँ तुम शक्ति संगठित करो
कि जिससे विकसे आर्यावर्त्त।
यहाँ मैं उत्तर-अभिमुख करूं,
वनों में रह दक्षिण-आवर्त्त।
उभय दिश, एकादश की भांति,
एक भाई का है ही संग।
हो उठें उत्तर दक्षिण एक,
तुम्हारा भारत बने अभंग॥२०॥

बृहत्तर आर्यावर्त्त ललाम,
भरत का भारत हो विख्यात।
समन्वित संस्कृति इसकी करे,
विश्वभर को उज्ज्वल अवदात।
पूज्य हो इसकी कण-कण भूमि,
बढ़े यों महिमा अमिट अपार।
रहें इच्छुक निर्जर भी सदा,
यहाँ पर लेने को अवतार॥२१॥"

भरत जी यह सुन विह्वल हुए,
दृगों से वही अश्रु की धार।
राम ने उन्हें बीच ही रोक,
कहा झंकृत कर उर के तार—
"अभी कब बातें पूरी हुईं;
विदित है तात! तुम्हारा स्नेह।
कहोगे जो कल, मैं सुखमान,
करूंगा वह ही निःसंदेह॥२२'

हुए कुछ पल को रघुवर मौन;
भरत के सिर पर फेरा हाथ।
और बोले; "उर मेरा सङ्ग;
तुम्हारी इच्छाओं के साथ।
किन्तु जो प्रेम-कर्म के बीच;
उठा करता है द्वन्द्व महान।
आज जब बातें छिड़ ही गईं,
विचारों को तो लो कुछ जान ॥३३॥

प्रेम की महिमा अथक अपार;
प्रेम है मानवता का सार।
प्रेम का हमें चखाता स्वाद;
विविध रूपों वाला संसार।
प्रेम ही रख 'मदीय' का रूप,
और फिर 'अस्मदीय' की छाप।
दिखा कर फिर 'त्वदीय' का रूप;
निखरता है 'तदीय' बन आप ॥३४॥

विपुल मस्तक में भर बहु ग्रंथ;
करे कितना ही तर्क प्रसार।
गले से ऊपर चक्कर मार,
उड़ेंगे उसके शुष्क विचार।
हृदय से होगा जब तक नहीं,
प्रेम का क्रियाशील शुचि योग।
जगत् के कर्मक्षेत्र में कभी न,
आगे बढ़ पावेंगे लोग ॥३५॥

प्रेम ही न हो कहाँ हों कर्म,
प्रेम ही से उनका सारस्य,
प्रेम के विना अनाथ प्रवृत्ति,
प्रेम है जीवन का स्वारस्य।
किन्तु है यही ज्ञान का काम,
मिला दे प्रेम और कर्त्तव्य।
रसायन जिसकी पाकर मनुज,
प्राप्त कर लें नव-जीवन भव्य ॥३६॥

उदधि की तुग तरगों वीच,
सके जो स्थिर आसन से वैठ—
भाव की ज्वालाओं में आप,
जाय प्रह्लाद सदृश जो पैठ।
आँधियों के चक्कर भी जिसे,
अचल ही समझ सकें भरपूर।
शिवा-शव पर साधक शिव तुल्य;
प्रेम-विजयी वह ही नर शूर ॥३७॥

मनुज निश्चय प्रतिमा-पाषाण,
कि जिसमे भावों का न उभार।
और वह कूल-हीन है स्रोत,
न जिसका भावों पर अधिकार।
यही वांछित है, अक्षत रहें
क्रियामय अपने दोनों हाथ—
प्रेम भी हो प्रति उर में,
किन्तु नियन्त्रण का वल भी हो साथ ॥३८॥

व्यक्ति का प्रेम, व्यक्ति का ज्ञान,
व्यक्ति ही तक बँधले उस काल।
छहरते हों जब रख स्वातन्त्र्य,
विश्व में सुख सम्पदा सुकाल।
देश जब पड़ा अभाव-ग्रस्त,
कर रहा जन-जीवन की माँग।
कौन वह प्रेम, कौन वह ज्ञान,
पिये नर व्यक्तिवाद की भाँग ?३६॥

मिलेगा किस उर-गृह में सौख्य,
लगी हो जब घर-घर में आग।
न इतना सँकरा ही है कर्म,
न इतना सँकरा है अनुराग।
'स्व' का जग-मंगल-मय विस्तार,
क्षात्र-जीवन का एक उपाय।
प्रेम का अनुचर बने न कर्म,
कर्म का होवे प्रेम सहाय॥४०॥

यही विस्तार-भावना आप,
राज्य का धरती रूप ललाम।
निभाना प्रेम और कर्त्तव्य,
क्षत्रियों का कठोरतम काम।
भूप इससे ही प्रभु का रूप,
कि उसके सिर है इतना भार।
न अपने, किन्तु लोक के लिये,
सदा उसका जीवन-संचार॥४१॥

न जिसने देखा भू पर स्वर्ग,
नरों में विश्वम्भर भगवान।
वृथा है प्रेम, वृथा है कर्म,
वृथा है उसका सारा ज्ञान।
'जनार्दन को जनता में लखो,'
यही है सब धर्मों का सार।
इसी के स्पन्दन से भर उठे,
मनुष्यों का समग्र संसार ॥४२॥

मनुज-आवश्यकताएं पाँच,
न इनमें कभी कहीं हो त्रास।
कि वह हो स्वस्थ, और सज्ञान,
मिले शुचि अन्न, वस्त्र, आवास।
अनेकों हैं शासन के तन्त्र,
अनेकों फैले यहाँ स्वराज्य।
त्याज्य वे जिनसे पच न पाँच,
प्राप्त कर पा जावें स्वाराज्य ॥४३॥

अभय हों सभी, शक्त हों सभी,
न कोई कहीं दुखी हों लोग।
राज्य से खुले रहें सब ओर,
अशक्तों की रक्षा के योग।
योग्यता भर सब ही श्रम करें,
और आवश्यकता भर प्राप्ति।
राज्य का हो यह ही आदर्श,
'राज्य ही की हो पूर्ण समाप्ति' ॥४४॥

नृप बन यदि हम दक्षिण गये,
रहेगा शस्त्रों ही का खेल।
बनेंगे दक्षिण उत्तर एक,
उरों का जब हो उर से मेल।
गड़ा ही रहे भविष्यत् हेतु,
भूमि का सारा रत्न सुवर्ण।
चाहिये हमें विश्व मे एक,
संगठित जीवन का नव-पर्ण ॥४५॥

विश्व-बन्धुत्व-व्यवस्था बने,
अवस्था की गति के अनुसार।
ऋषि-उरों में हो जिसका स्रोत,
बनचरों में हो वह रसधार।
उभय संस्कृतियों का कर मेल,
स्वत. हों 'महा-देव' यों व्यक्त
कि जिनके नर वानर ही नहीं,
देव-दानव भी होवें भक्त ॥४६॥

एक धन श्रम है, दूजा द्रव्य;
रहें दोनों जनता के पास।
संभालें ब्राह्मण क्षत्रिय इन्हें,
न जो इन दोनों ही के दास।
एक की नीति अपर की क्रिया,
एक की बुद्धि अपर के बाहु।
रहे चतुरंग-समुन्नत देश,
न कोई ग्रसे केतु या राहु ॥४७॥

रहे भौतिक सुख सब के पास,
किन्तु जन बनें न उसके दास।
आर्य-संस्कृति का उज्ज्वल चिह्न,
कमल ही कहा गया है खास।
हमारी मानस-विद्युत् करे
जगद् विद्युत् को हम में लीन—
हमारे योगों के विज्ञान,
रचें ऐसा विज्ञान नवीन ॥४८॥

मनुज का जीवन है अनमोल,
साधना है वह एक महान।
सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र-उत्थान।
इसलिये नहीं कि करें सशक्त,
निर्बलों को अपने में लीन—
इसलिये कि हों विश्व-हित-हेतु,
समुन्नति-पथ पर सब स्वाधीन ॥४९॥

विश्व में फैल जाय सुख शान्ति,
यही हो जीवन का आदर्श।
इसी में मानवता की कान्ति,
इसी में मानव का उत्कर्ष।
उचित है मनुज इसी के हेतु,
संभालें अपने अपने काम।
जहाँ हैं भरत, वहाँ हों भरत,
जहाँ है राम वहाँ हो राम ॥५०॥

राजसिक शासन का यों खिले,
जगन्मङ्गलमय सात्विक रूप—
कि शासक सेवक होकर मिले,
स्वकर्मों में भर प्रेम अनूप।
व्यवस्था एक नई चुपचाप,
विश्व में ऐसा रचे विधान।
कि हर नर के अन्तस से,
स्वतः प्रकट हों छिपे हुए भगवान ॥५१॥

वस्तुतः प्रेम और कर्तव्य,
एक ही पथ के हैं दो छोर।
ज्ञान ही हमें कराता भान,
कि हों वे किस सुलक्ष्य की ओर।
उमड़ता है जो उर का प्रेम,
केन्द्र सा करके एक पदार्थ।
विश्व के कण-कण में छा जाय,
तभी तुम समझो उसे कृतार्थ ॥५२॥

कौन जीवन के चौदह वर्ष;
खेलते खाते जाते बीत।
परीक्षा पा लेवें सिद्धान्त,
मुझे वह अवसर मिला पुनीत।
तुम्हारा निर्णय मुझको मान्य,
'स्व' की किस श्रेणी का दूं साथ ?
सौंपता हूं अपने को आज,
तुम्हारे हाथ, तुम्हारे हाथ ॥५३॥"

प्रेम से फेर पीठ पर हाथ,
भरत की आँखे पोंछीं आप।
कहा, "अब चलो, समय चढ़ चुका,
बढ़ा है आतप का उत्ताप।
भरत चल पड़े यन्त्र के तुल्य;
उठ रहा था उर में जो ज्वार—
सहम उठते नभ पर भी सूर्य,
कहीं यदि लेते उसे निहार ॥५४॥

❀ ❀ ❀ ❀

कन्द-मूल फल ले वन चारी,
आते थे गाते यह गान,
"गांव हमारे वृन्दावन हैं,
पशु से हम नर हुए सुजान।
वन के पौधे-पौधे बोले,
'लो अब सुख का संचय हो।'
युग-युग जियो हमारे प्यारे,
राम! तुम्हारी जय-जय हो ॥ ५५॥

बड़े-बड़े योगी मुनि जन,
हैं देते रहते आशीर्वाद।
दीन हीन ग्रामीण सभी हैं,
पाते रहते राम-प्रसाद।
हुआ सभी में भाईचारा,
घूम रहे सब निर्भय हो।
युग-युग जियो हमारे प्यारे,
राम! तुम्हारी जय-जय हो॥ ५६॥

सीता मैया, लक्ष्मण भैया,
सब का हमको मिला दुलार।
हमने वह संजीवन पाया,
एक-एक के हुए हजार।
बोल उठा उर अन्तर्यामी,
'दुख दरिद्रता का क्षय हो।'
युग-युग जियो हमारे प्यारे,
राम। तुम्हारी जय-जय हो ॥५७॥"

निज पगडण्डी पर भरत, किन्तु, बढ़े चुपचाप।
स्वर-लहरी वह रह गई, झंकृत होकर आप ॥५८॥

जब रवि का उत्ताप प्राप्त कर,
जग के जीव जले थे जाते।
भरत-हृदय का ताप कौन,
फिर डेरे में जाकर लख पाते।
ढला दिवस का ताप, हृदय का
ताप न पल भी घटने पाया।
इसी बीच नभ पर भी भावी—
सुख ले, सकट घन-घहराया ॥५९॥

———

त्रयोदश सर्ग

सध्या आने के आगे ही;
आँधी ने आ नभ को घेरा;
उसके एक कड़े झोंके मे—
उखड़ा शान्ति कान्ति का डेरा।
हहर उठा वन प्रान्त समूचा,
जीव-जन्तु जी लेकर भागे।
गिरे रणाहत-वीरों-से तरु
जिनने अकड़ दिखाई आगे ॥१॥

धूल-धूल ही धूल सब कहीं,
व्योम धूल से यों भर आया—
रवि ने अपना तेज गँवाकर;
पश्चिम में मुह आप छिपाया।
फिर भी शान्त हुई न आँधियां;
जब तक वे न अँधेरा लाईं।
पटी, बात कहते, अंजन से—
अन्तरिक्ष की दुर्भर खाईं ॥२॥

तारों की क्या ताव, धूल का—
तिमिर चीर जो भूपर झांकें।
दीपों की क्या शक्ति भूमि मे,
स्थिर रहकर जो ऊपर झांके।
झोंकों में यदि पड़ीं मशालें,
पल में प्रलय मचा सकती थीं;
डेरों की क्या बात, विपिन में—
भी वह आग लगा सकती थीं॥३॥

अवध और मिथिला के नागर,
थर थर कांपे भावी भय से।
'मृत्यु निकट है मैदानों से—
अथवा डेरों के आश्रय से?
राम शिखर पर, डेरे भू पर,
घोर तिमिर है और न पाँखें।
एक बार उनको लख लेतीं—
फिर चाहे मुंद जातीं आंखें॥४॥"

भय को भी भयभीत बनाने,
प्रकृति लगी आंखें दिखलाने।
क्षितिज छोर से बढ़ीं बिजलियां,
चम-चम करती तेगें ताने।
तड़ित् तिमिर के घोर द्वन्द्व में—
पल-पल पर पलटी जयमाला।
जो जीता वह ही भीषण था,
अन्धकार हो या कि उजाला॥५॥

आँधी थमी, थमी फिर ऐसी,
पड़े तुरत सांसों के लाले।
ऊष्मा बढ़ी, बढ़ी व्याकुलता,
प्राणों को अब कौन संभाले?
एक छोर से अपर छोर तक,
नभ में था पानी ही पानी।
एक बूंद के लिये विकल था,
किन्तु व्यथित भूतल का प्राणी ॥६॥

आई बूंद कि जीवन आया,
हटा मृत्यु का सा सन्नाटा।
पर बूंदों के साथ साथ ही,
गिरा घोर नभ से अर्राटा।
चलीं गोलियाँ, गोले छूटे,
दहला जगत् दगी तोपों से।
पल पल में सौ पद्म मुसल भी
गिरने लगे घटाटोपों से ॥७॥

मर्यादा ही में सब अच्छे,
पानी हो वह या कि हवा हो।
इधर मृत्यु है, उधर मृत्यु है,
मध्य-मार्ग का यदि न पता हो।
मनमानी सी मची हुई थी,
पानी के उन आघातों में।
रोक-थाम जिसकी न कहीं थी,
शिविरों और घने छातों में ॥८॥

उमड़ उमड़ कर घोर शोर कर,
सभी ओर था जोर दिखाना।
धड़ धड़ धड़ गिरती धाराओं की
गति को गति-शील बनाना।
कड़क कड़क कर तड़प तड़प कर,
तड़िता जिसका टीका करती।
छन छन कर, छिप छिप कर, जिसमें,
कुछ प्रलय-विलय सा भरती।।९।।

नीचे पानी ऊपर पानी:
सभी ओर पानी ही पानी।
जिसके बिना विकल थे जन सब,
पाकर उसे बड़ी हैरानी।
जीवन वह बन गया मृत्यु का
रूप - रूप, ऐसी थी वर्षा।
हुए सभी जल-थल-नभ सम-से,
आह! विषम कैसी थी वर्षा!! १०।।

अम्बर की कोई हों बातें:
मन को अब हैं रुचिकर होतीं!
अम्बर की जलधाराएं भी;
बीज दुखों के ही हैं बोतीं।
दो घड़ियों के अन्दर आज तक—
ही निर्दय ने की मनमानी।
आज स्वतः बन गया किन्तु;
उन दो घड़ियों में आँधी पानी!! ११।।

हलचल सी छाई शिविरों में,
विजली चमकी, सबने देखा—
पानी से लथपथ वन्यों की,
बढ़ी एक बिखरी सी रेखा।
चीर प्रलय का वज्र बढ़े थे,
वे, कि न डेरों पर क्षति आये।
उनके रहते उनकी भू पर,
अतिथि किस तरह दुःख उठाये॥१२॥

पानी थमा. मग्न थे दादुर,
दूर मोर ने शोर मचाया।
उठी वसुमती-वास. जिसे पा,
मन्द पवन फूला न समाया।
जगमग-जगमग तारक जागे,
अवनी के सुख पर अनुरागे।
किन्तु पुरस्काराह कहाँ. जो,
सुख मे पीछे दुख में आगे? १३॥

कहां गये वे वन्य सभी जो—
मन के उज्वल, तन के काले?
कहां गये निष्काम तपस्वी,
सेवा के अनुपम व्रत वाले?
रहे शिविर में नागर नर ही,
चिन्ताओं ने जिनको घेरा।
'कब अब घर की राह मिलेगी.
कब होगा सुखधाम सवेरा॥१४॥'

हुआ सवेरा आखिर भू पर;
मिले सभी यह निश्चय लेकर।
आज एक निर्णय हो जाये,
जाय प्रजा अपने अपने घर।
इतने में रघुवर भी आये,
गुरु को साभिप्राय विलोका।
कैकेयी ने बुलवा भेजा,
बोली· दुःख सहित पथ रोका ॥१५॥

"मैं हतभागिन अब क्या मांगूं;
मांग, मांग का सेंदुर मेटा।
विनय यही है· अब हम सब की
लाज तुम्हारे हाथों बेटा !!
चलो दया कर अवध, भरत को
प्राणों का मिल जाय सहारा।
मुझे विदित है· मुझसे कितना—
अधिक भरत है तुमको प्यारा ॥१६॥

साथ सबों के यदि न चलोगे,
आज द्वार पर धरना दूंगी।
इन पापी प्राणों को धारण
कर घर में क्यों और मरूंगी।
प्रायश्चित्त करूंगी वन में,
जिससे क्षमा तुम्हारी पाऊं।
तुम 'मां' कह मुझसे फिर लिपटो,
मैं 'लल्ला' कह बलि बलि जाऊं ॥१७॥"

प्रभु बोले, "तुम मेरी मैया,
जो आज्ञा वह सिर-माथे पर।
तुम्हें नहीं शोभा देता है,
इस विध होना दुख से कातर।
माँ, धरना दुर्बल का बल है,
तुम सबला हो, तुम माता हो।
राम उसी पथ का अनुगामी—
भैया भरत जिधर जाता हो ॥१८॥"

धैर्य धरा कर बाहर आये,
देखी भरी सभा मुनियों की।
अवध और मिथिला सचिवों की,
नीति-दर्शियों की, गुणियों की।
बैठ गये श्रीराम विनत हो,
पल भर को सन्नाटा छाया।
चला विचार कि करे सभा में—
कौन कहाँ से अथ मनभाया ॥१९॥

बोल उठे जावालि मुनीश्वर,
"मैंने जो सोचा समझा है।
और जगत के अथ का इति का,
मुझको जो कुछ मिला पता है।
उसके बल पर कह सकता हूं:
राम! न आई लक्ष्मी टालो।
नर प्रभुता से प्रभु होता है,
प्रभुता यदि मिल रही, सँभालो ॥२०॥

इस प्रभुता के हेतु, न जाने
कहां कहां है छिड़ी लड़ाई।
इस प्रभुता के हेतु भिड़ पड़ा,
इस जग में भाई से भाई।
किन्तु वही प्रभुता लौटाने,
आज एक भाई जब आया।
बड़ी भूल होगी यदि तुमने,
उसे न सुखसे गले लगाया ॥२१॥

दुनिया में जब सब नश्वर है,
'यथापूर्व' जब बन्धन-माला—
किसकी है अत्यन्त-मुक्ति फिर,
किसके यश का अमिट उजाला?
बँधा न जो आदर्शवाद से,
परलोकों का ध्यान न लाता—
हाय, हाय से मुक्त सदा जो,
मुक्त वही जीवन कहलाता ॥२२॥

ग्रन्थों के बहुपथ फँसाते,
मनुज-बुद्धि कोरी उलझन में।
जीवन का रस कहीं मिला है,
उन सूखे रेतों के कन में!
मरे सभी परलोक-विचारक,
मरे सभी सच्चित्-अवतारी।
जिया वही, जिसने इस जग में,
मस्ती से निज आयु सँवारी ॥२३॥

दो दिन का तो यह जीवन है,
वह भी तप ही करते बीते ?
तप वे बेचारे करते हैं—
जिनको भोगों के न सुभीते।
यौवन की ये नयी उमंगे,
दुनिया से उफ् ! दूर न भागो।
ईश्वरता के सुख तो भोगो,
इस नन्दन में कुछ तो जागो ॥२४॥

औरों को न सता कर भी है,
निभ सकती मनमानी भू पर।
बस सकते हैं इन्द्रिय-सुख भी—
टिक कर सदा न्याय के ऊपर।
न्याय्य राज्य का भोग तुम्हारा,
पास तुम्हारे जब यों आया।
कौन तुम्हें तब सुज्ञ कहेगा,
यदि तुमने उसको ठुकराया ॥२५॥

प्रकृति, पुरुष के लिये भोग्य बन,
नित्य नयी छवि है दिखलाती।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सौरभ
के पंचामृत-पात्र सजाती।
सबको मिले सुधा-सुख मंजुल,
राजा वह सुविधा लाता है।
इसीलिये भोगों का भाजन,
जग का इन्द्र कहा जाता है ॥२६॥

सुख-सुविधा-साधन देती है,
एक गांव की भी ठकुराई।
तुमने तो उत्तर-कोसल की,
अनुपम चक्रवर्तिता पाई।
ऐसे महाराज होकर भी,
यदि तुम हो यों वल्कलधारी।
और न कुछ कह यही कहूंगा—
आह। गई है मति ही मारी॥२७॥

गई पिता के साथ वरों की
कथा, अम्ब की बातें मानों।
धर्म-तत्व कहता है, सुख ही
एक ध्येय जीवन का जानो।
यदि इच्छा ही है कि वनों में,
निज को कांटों से उलझालो।
कहां तुम्हें अधिकार कि तुम,
वैदेही को भी दुख में डालो॥२८॥"

लौकिक पक्ष प्रकट करने में,
थे जावालि प्रसिद्ध धरा पर।
आस्तिक कहे कि नास्तिक कोई,
उन्हें न थी चिन्ता रत्ती भर।
पर वैदेही की चर्चा का,
उनने जो था तीर चलाया।
उसने स्मृति-कर्ता मुनिवर को,
तत्व-कथन-हित विवश बनाया॥२६॥

कहा अत्रि ने अतः कि "अपना,
सुख दुख वैदेही ही जाने।
हमें चाहिये हम तो केवल,
नीति तत्व की बात बखाने।
क्योंकि नीति पर सपद् ही क्यों,
निश्चत टिका समग्र जगत् है।
और जगत जीवन दोनों का,
अंतिम ध्येय अखंडित सत् है ॥३०॥

राम। विदित है मुझे कि तुमको,
वन-विहरण कितना भाता है।
राम! विदित है मुझे कि तुम से,
स्थल यह कितना सुख पाता है।
तुमने ऐसी ज्योति जगा दी,
वन्यों के गांवों गांवों में।
एक अहिंसक क्रान्ति आप ही,
जाग उठी सबके भावों में ॥३१॥

शौर्य, शील, सौंदर्य तुम्हारे,
बरबस सबके मन हरते हैं।
नर-वानर के हृदय मिला कर,
भारत का एका करते हैं।
तुमने वद्ध हुई आ आकर,
ऋषियों की वाणी कल्याणी।
हुए अनार्य्य आर्य्य-सम्मानित,
तरी पतित नारी पापाणी ॥३२॥

राम ! विदित है मुझे सभी वह,
किधर तुम्हारी रुचि जाती है।
किससे हृदय सुखी होता है;
किस पर चित्त वृत्ति छाती है।
किन्तु चाहता हूं मैं, कोई
कह न सके यह कहने वाला।
तुमने तन या मन के सुख को;
कर्तव्यों का पथ दे डाला ॥२३॥

नृप इस जग में सर्वोपरि है,
पर विधान से बँधा हुआ वह।
स्मृतिकारों के नियमों पर ही;
भली भांति है सधा हुआ वह।
इसे नहीं अधिकार कि पैतृक
राज्य जिसे चाहा दे डाला।
इसे नहीं अधिकार; किसी को
जब चाहे दे देश-निकाला ॥२४॥

दशरथ नृप ने अनधिकार-मय
वह अधिकार कहां दिखलाया ?
रानी ने था एक यंत्र से
बिना विचारे 'हां' कहलाया।
बिखर गया वह यंत्र बिचारा;
अपनी ही 'हां' के इस स्वर में।
और भर गया 'ना' की गरिमा;
रानी के भी उर अंतर में ॥२५॥

उस 'हाँ' की कीमत ही कितनी,
उसे न अब तुम और सँभालो।
उसके लिये राज्य-शासन मे,
परम्परा की रूढ़ि न टालो।
जब कि मनाने आया तुमको
बंधु भरत, कुल का उजियारा।
अवध-राज्य-कल्याण बिचारो,
कहता है कर्त्तव्य तुम्हारा ॥३६॥

शासन दण्ड हाथ मे लेकर,
भारत एक बना सकते तुम।
है इतना सामर्थ्य कि जग में
आर्य्य-सभ्यता छा सकते तुम।
फिर क्यों चौदह वर्षों तक तुम,
वन वन भटको बने उदासी।
तुम पालो कर्तव्य, सुखी हों
तुमको पाकर अवध-निवासी ॥३७॥"

अवध-निवासी सुख के इच्छुक,
केवल उत्सुक ही रह पाये।
लखा उन्होंने, रामचन्द्र थे
प्रणत भाव से नयन झुकाये।
किन्तु प्रणति के साथ-साथ ही,
स्वीकृति भी थी या कि नहीं थी।
इसकी किसी प्रकार सूचना,
उस आनन पर नही कहीं थी।३८॥

गुरुवर ने देखा विदेह को,
बोले तब मिथिला के स्वामी।
"नई बात कोई न कहेगा,
मुनि-मंडल का यह अनुगामी।
प्रथम मुनीश्वर ने समझाई,
सुख के पथ की दुनियादारी।
अपर महामुनि ने सत्पथ की
स्मार्तप्रथा उपयुक्त विचारी ॥३६॥

चित् को अंतिम लक्ष्य मान कर,
मैं भी उसी बात पर आया।
राम! करो वह काम, रहे आदर्श,
रहे पर, लोक-सुहाया।
भला किया जो वचन मान कर,
तुमने तब गृह-कलह बचाई।
राज बचा लो वचन मान कर
आज, खड़ा है सन्मुख भाई ॥४०॥

यही बड़ा आश्चर्य कि अब तक,
क्यों न अवध पर अरिगण टूटे।
यह न किसी को कांक्ष्य, विदेशी
आकर अपनी लक्ष्मी लूटे।
आर्यावर्त्त-अधीश्वर भटके
वन वन, तापस वेश उदासी।
अखिल प्रजा में क्या अनार्य, फिर,
होगा शुचि आर्यत्व-विकासी? ॥४१॥

पिता सदा सम्मान्य पुत्र का,
अटल जनक-आदेश बड़ा है।
किन्तु पिता से भी बढ़ कर, उस
जगत्-पिता का देश बड़ा है।
सीमा से सद्वृत्त बढ़े जो,
दुर्वृत्तों सा त्याज्य हुआ वह।
किन वचनों पर मन अटकाना,
जब कि अराजक राज्य हुआ यह ॥४२॥

ब्राह्मण राज्य तपोवन में है,
क्षत्रिय राज्य पुरों में सीमित।
वैश्य राज्य लंका में सुनते,
शूद्र राज्य गांवों में निर्मित।
चारों की अपनी महिमा है,
राज्य न हो, पर, राज्य-विहर्ता।
मुझे जान पड़ता है, तुम हो
चातुर्वर्ण्य — समन्वय — कर्त्ता ॥४३॥

सत्य महा महिमा-शाली है,
तात-प्रतिज्ञा पूर्ण निभाओ।
पर शासन की सिद्ध शक्ति भी,
मत अपनी यों व्यर्थ बनाओ।
दण्डक के ही किसी गांव में,
अवध-राजधानी बस जावे।
चौदह वर्षों तक इस ही विधि
देश निदेश तुम्हारे पावे ॥४४॥

राज्य व्यक्ति का या कि वर्ग का,
राज्य प्रजा का या राजा का।
चर्चा ही है व्यर्थ, क्योकि वह
है त्रिभुवन के अधिराजा का।
जितना जिसको न्यास मिला है,
उचित है कि वह उसे सँभाले।
और अन्त मे उज्ज्वल मुख से,
जिसकी वस्तु उसे दे डाले ॥४५॥

घर में, वन में, या कि राज्य में,
बँध कर रह जाना न भला है।
सत्य सरीखे नियमों में भी,
फँस कर रह जाना न भला है।
त्याग - भावना - भरेहुए हों
लोक-संग्रही धर्म हमारे।
जीवन कर्मशील हो, पर हों—
ब्रह्मार्पण ही कर्म हमारे ॥४६॥

सुलझे चित्रकूट-कुटिया पर,
एक न घर की आज समस्या।
सुलझे घर के साथ-साथ ही
भारत भर की आज समस्या।
सिद्धि वरण करती है उनको—
स्वतः विवेक और विनयों की।
जो चलते हैं इस दुनिया में
बात जान कर चार जनों की ॥४७॥"

सन्नाटा छा गया सभा में,
मृदु स्वर से तब रघुवर बोले,
"मैं हूं धन्य कि पूज्य पधारे,
नीति धर्म जिनने सब तोले।
जैसा हो आदेश सबों का,
सुख से शीश चढ़ाऊंगा मैं।
उधर पिता हैं, इधर आप हैं;
दुःख कहाँ फिर पाऊंगा मैं ॥४८॥"

सन्नाटा फिर हुआ सभा में,
उधर राम थे, इधर भरत थे।
और बीच में भरे अनेकों
प्रेम और नियमों के व्रत थे।
असमंजस में विज्ञ पड़े सब,
कौन 'एक आदेश' सुनायें—
जिससे शील उभय पक्षों के
और न्याय-निर्णय निभ जायें ॥४९॥

गुरु वशिष्ठ ने भाव टटोले,
और सुनाया सब का निर्णय।
"धन्य तुम्हें है राम! हमारे
हित तुमने त्यागा निज निश्चय।
पर हम केवल यही चाहते,
पूरी करो भरत—अभिलाषा।
उनकी ही अन्तर्भाषा में,
निहित हमारी सब की भाषा ॥५०॥"

भरत जिधर थे उधर सबों की
उत्सुक आँखे बरबस धाईं।
दौड़े इतने भाव, न सकीं
सभाल, भरत आंखे भर आईं।
चढ़ा दृगों में ज्वार, और,
मुख के रगों पर भाटा छाया।
लहरों ने टकरा टकरा कर,
उर-सागर में तुमुल मचाया॥५१॥

'विपम कलंक मिटाने का हठ,
और विविध शंकाएं सब की।
प्रभु को फिर लौटा लाने की,
खरतर आकांक्षाएं कब की।
एक ओर साकेत-स्वार्थ है,
स्वार्थ भरत का जिसमें पूरा।
और दूसरी ओर कार्य है
प्रभु का, जो अब भी कि अधूरा॥५२॥

इधर अड़ा कर्तव्य अटल सा,
उधर प्रेम की आंखें तर हैं।
सेवक-धर्म और प्रभु-इच्छा,
समझ सके क्या नागर नर हैं?
प्रभु का हो सान्निध्य सदा ही,
इससे बढ़ सुखकोप कहां हैं।
इस सुखकोप-याचना में, पर,
प्रभु का ही सन्तोप कहां है॥५३॥

कल की वह गुरुतर प्रभु वाणी,
आज त्रिरत्नों की चर्चा यह।
प्रभु इच्छा ही सेवक-कृति हो,
मानी हुई भक्ति-अर्चा यह।
भरद्वाज सकेत मार्ग का,
गाँवों की शासन-शैली वह।
एक - समन्वित - राष्ट्र - अभिमुखी,
वन्य जाति भू पर फैली वह॥ ५४॥'

चलचित्रों सी क्रमशः आईं,
और गईं ऐसी वह वातें।
आखिर हठ की सब चालों ने,
खाईं पूरी पूरी मातें।
प्रेम, विनय, नय-निष्ठा ने मिल,
दिया सहारा उन्हें उठाया।
शांत हुईं अंतर की लहरें,
शब्द-स्रोत वढ़ वाहर आया॥५५॥

दृगों दृगों सब को प्रणाम कर,
नीचे ही दृग अपने डाले।
स्नेह-सिंधु को उर में रोके,
और कण्ठ पर गिरा सँभाले,
पल-पल में रोमांच आर्द्र कर,
शब्द शब्द में भर स्वर कातर।
बोले भरत, समुत्थित होकर
कर्तव्यों की असिधारा पर॥५६॥

"गुरुजन के रहते मैं बोलूं ?
आह ! दुसह यह भार उठाऊं !
निज अभिलाषाओं का
अपने हाथों ही संहार रचाऊं ?
किन्तु हुआ आदेश, विवश हूं,
उर पर सौ-सौ वज्र सहूंगा।
जिसे न सपने में चाहा था,
इस मुख से वह बात कहूंगा ।।५७।।

मुझ अनुचर की अभिलाषा क्या,
प्रभु – इच्छा अभिलाषा मेरी।
प्रभु को जो सङ्कोच दिलावे,
कभी न हो वह भाषा मेरी।
जान चुका हूं प्रभु की इच्छा,
पथ विपरीत गहूं मैं कैसे।
रोम-रोम जिसको कहता था,
अब वह बात कहूं मैं कैसे ।।५८।।

अवध और मिथिला के वासी;
सकल परिस्थिति देख रहे हैं।
प्रभु का विश्वरूप, वन्यों की
जागृति में वे लेख रहे हैं।
मुनियों ने, मिथिलेश्वर ने;
जो निर्णय का संकेत बताया।
मानूंगा मैं धन्य स्वतः को;
उतना भी यदि प्रभु को भाया ।।५९।।

सानुकूल स्वामी हैं सन्मुख,
और कलङ्क धुला है सारा।
किन्तु कठोर धर्म सेवक का,
जिससे स्वार्थ सभी विध हारा।
उनकी इच्छा है कि अवध में,
मै विरहातुर दिवस विताऊ।
तब मै कैसे कहूं, चलें वे
अवध, कि मै ही वन को जाऊं ? ६०॥

शशि ने जल में लहर उठाकर,
खींचा, सागर में बिखराया।
प्रभु ने भाव दास के उर का
खींचा, जग भर में बिखराया।
पर अब उन बिखरे भावों में,
शशि ही निज शीतलता छाये।
उर तो उर-प्रेरक का चेरा,
वह दुख दे या सुख पहुंचाये॥६१॥

आया था अपनी इच्छा से,
जाऊंगा प्रभु-इच्छा लेकर।
मैने क्या क्या आज न पाया,
इस वन में अपनापन देकर।
राज्य उन्हीं का यहाँ वहाँ भी,
मै तो केवल आज्ञाकारी।
चौदह वर्ष धरोहर सँभले,
बल-संवल पाऊं दुखहारी॥६२॥

चरण-पीठ करुणा-निधान के,
रहें सदा आँखों के आगे।
मैं समझूँगा प्रभु-पद-पंकज
ही हैं सिंहासन पर जागे।
उनसे जो प्रेरणा मिलेगी,
तदनुकूल सब कार्य करूँगा;
इन्हें अवधि-आधार जानकर,
उन पर नित्य निछावर हूँगा ॥६३॥

आशीर्वाद मिले वह जिससे,
प्रभु में जीवन-स्रोत मिला लूँ।
उनके लिये उन्हीं को पीछे,
पा उनका आदेश, सँभालूँ।
फूले फले जगत् यह उनका,
इसी लिये, बस, प्यार करूँ मैं।
और अवधि ज्यों ही पूरी हो,
सारा भार उतार धरूँ मैं ॥६४॥

बढ़े राम कह गद्गद होकर,
लिपटा लिया दीर्घ बाहों में।
मौन भरत भावों से झुककर,
बिखर पड़े अपनी आहों में।
उन पीठों पर सुर-सुमनों से,
बरसे स्नेह-सुधामय मोती।
जिनकी ज्योति न जाने कब तक,
रही सबों के हृदय भिगोती ॥६५॥

परिषद् अति आश्चर्य-चकित थी,
आशा क्या थी, निर्णय कैसा।
भरत भरत ही थे महिमा में,
निर्णय था ऊंचा वह ऐसा।
भाव-विभोर जनों की वाणी,
यद्पि न जिह्वा तक थी आई।
पर निर्णय ने स्वतः आप ही,
सब की स्वेच्छा-स्वीकृति पाई ॥६६॥

बोले राम, "धर्म-संकट से,
आज भरत ने जगत उबारा।
सबका दुख अपने में लेकर
सबको सुख का दिया सहारा।
वह अनुराग त्याग-मय अनुपम,
बडे भाग्य, यदि कोई पाये।
देव मनुज की महिमा समझें,
सुर नर के दर्शन कर जाये ॥६७॥

आंखों की बूंदों में रहती,
शांति कांति वह उर की छाई।
मोती के पानी की कीमत,
नश्वर फूलों ने कब पाई।
जग की स्मिति उस ही आंसू की
नीवों पर निज महल बनाती।
जिसकी रुचिर आर्द्रता, जग के
ताप-हरण को आगे आती ॥६८॥

आज भरत खोकर भी जीते,
और जीत कर भी मैं हारा।
मेरे ही कंधों पर पटका,
उनने बोझ राज्य का सारा।
केवल चौदह वर्षों तक वे,
मेरे प्रतिनिधि मात्र रहेंगे।
उसके बाद एक दिन को भी,
मुझे न वन में रहने देंगे ॥६९॥

मुझे परम सन्तोष इसी में,
रख ली मेरी लाज उन्होंने।
इस खूबी से आज सुधारा,
सब लोगों का काज उन्होंने।
आशीर्वाद आप सब का हो,
जिसका बल हम दोनों पायें।
अपने अपने स्थानों में रह,
अपने अपने कार्य निभावें ॥७०॥

निज इच्छाओं पर शासन कर,
अंग बनें सब उस शासन के।
जग में बिखरे विविध राज्य हों—
जिस सुन्दर माला के मनके।
और धर्म का सुदृढ़ सूत्र हो,
उनके उर में सदा समाया।
दोनों का व्यक्तित्व निभाकर
जो एकत्व रचे मन-भाया ॥७१॥

विश्व-पुरुष की इच्छा से ही,
मैंने दक्षिण का वर पाया।
वह दक्षिण जो परम-भयानक,
वह दक्षिण जो रहा पराया।
भैया! तुमने योग दिया जो,
उसने देश-दुखों को कीला।
आज वाम से दक्षिण होगा--
दक्षिण का वह पथ कँकरीला ॥७२॥

दक्षिण यम की दिशा बनी थी,
सयम की वह दिशा बनेगी।
दण्डक थे हम सबके पूर्वज,
उनकी नगरी पट पलटेगी।
किन्तु विनय है मुझे छोड़ियो,
मेरे भाग्य और बाहों पर।
अवध कि मिथिला दूतों तक की—
गति न रहे मेरी राहों पर ॥७३॥

जिन्हें मिलाना चाह रहा हूं,
मुझको उनमें मिल जाने दो।
मेरे सुख के दुख के साथी,
बन कर उनको खिल जाने दो।
निर्भय मै वन में विचरूंगा,
सिर पर मुनिगण की छाया है।
और मनुज-जीवन के पथ पर,
सर्वोपरि विभु की माया है ॥७४॥

दक्षिण तो मैं देखूंगा ही,
पर उत्तर पर आँच न आवे।
करो व्यवस्था भरत ! कि मणि
की जगह विदेशी कांच न आवे।"
कहा जनक ने "पूर्व दिशा में,
स्थिर है अपनी आर्य-पताका।"
कैकेयी ने कहला भेजा,
"मैं साधूंगी पश्चिम नाका ।।७५।।"

बोले राम कि "ऐसा है तो,
साधु भरत का भारत प्यारा।
होगा एक अखण्डित अनुपम,
अग जग की आंखों का तारा।
काल - चक्र की कई आँधियां,
उस पर आयेंगी जायेंगी।
उसकी जीवन-ज्योति, किसी भी
भांति न किन्तु बुझा पायेगी ।।७६।।

भारत जब तक जग में होगा,
भारतीयता तब तक होगी।
भारतीयता होगी जब तक
जग होगा तब तक नीरोगी।
जग - नैरुज्य - वती मानवता,
फिर से इस भू पर छा जावे।
जो जिस थल पर हुआ नियोजित,
वह उस थल से सुख पहुंचावे ।।७७।।"

'धन्य-धन्य' कह उठे सभासद,
'यह निर्णय जग—गति बदलेगा।
इस निर्णय को स्वर्णाक्षर मे
निज उर पर इतिहास लिखेगा।
मथा साधुमत, मथा लोकमत,
निगमागम-नृप-नीति निचोड़ा।
इस निर्णय ने उस निचोड़ को
विमल विश्व-समुदय से जोड़ा ॥७८॥'

चले जहाँ से भरत, वहीं मन से फिर आये,
जग छोड़ा था, पुनः उसी में गये रमाये।
दिनचर्या में किन्तु दृष्टि का था वह अतर,
अवनी अम्बर हुई, और अवनी था अम्बर ॥७९॥

चतुर्दश सर्ग

भरत-कूप के रूप वहाँ रखकर स्मृति बाँकी,
भरकर उर में चित्रकूट की चित्रित झाँकी।
लौटे जैसे भरत, सभी निज ओर सिधारे.
मिले अवध को पुनः प्रवासी प्रभु के प्यारे॥१॥

किन्तु भरत सिंगरौर दृगों से देख चुके थे;
समता में तपभूमि निकट ही लख चुके थे।
नन्दिग्राम-निवास उन्हें अतएव सुहाया;
गांवों का जो देश नगर में वह कब आया? २॥

सुखकर चातुर्वर्ण्य राम ही भले चलावें—
पर गाँवों के शूद्र-राज्य मँज तो कुछ जावें।
पांचों सुख अन्नादि-जन्य हों घरों घरों में,
नारायण को लखा उन्होंने नरों नरों में॥३॥

हों मजदूर किसान बन्धु बान्धव से अपने,
अपने होकर रहें उन सबों के सुख-सपने।
भरत हुए ग्रामीण कुटी लघु एक बनाई,
मन पर संयम-डोर लंगोटी तन पर छाई॥४॥

ऋतु पर ऋतुएं चलीं अचल उनकी दिन-चर्या;
विविध झाँकियों युक्त प्रगति उनकी आदर्या।
दिवस-मास-मय वर्ष भरत ने सह कर जीते,
रोते गाते अष्ट-याम इस ही विध बीते॥५॥

❀ ❀ ❀ ❀

(१)

अ

सोया है जग ये जागे हैं।
पावन परम ब्राह्म वेला में,
सोया है जग ये जागे हैं।
रोम-रोम में राम-राम ध्वनि,
जिह्वा पीछे, वे आगे हैं।
रोम-रोम ही की चर्चा क्या,
कण-कण मस्ती में पागे हैं।
प्रभु-पद-पीठों की अर्चा में,
यों तन-मन से अनुरागे हैं।
कुटिया समझे भरत वहाँ हैं,
भरत राम तक उड़ भागे हैं।
सोया है जग ये जागे हैं।

आ

"उन चरणों पर वलि वलि जाऊं।
जिन चरणों के सिंहासन ये, उन पर छत्र चँवर वन छाऊं॥
पूजा कैसी अर्चा कैसी,
उपचारों की चर्चा कैसी,
तामस अंजन है आँखों पर, अलख निरंजन क्या लख पाऊं॥
न भवकूप में भटके आशा,
युगल रूप में अटके आशा,
निरवलम्ब के आलम्बन को, नित्य इसी विध हृदय लगाऊं॥

विश्वम्भर के घर क्या कम है,
उपहारों का संचय श्रम है,
सीमाहीन महामहिमा पर, लघुता के लघु फूल चढ़ाऊं ।।
स्वप्न-जाल का चन्दन सन्तत,
क्षत-विक्षत भावों के अक्षत,
अभिलाषा है अपने-पन की पीड़ा का नैवेद्य सजाऊं ।।
आंसू अर्घ्य, आरती आहें,
हृदयेश्वर की हों जो चाहें।
उर के क्रन्दन की स्तुतियों से, मैं अपना आराध्य रिझाऊं।'
उन चरणों पर बलि बलि जाऊं ।।

६

ज्योतिर्मय उर अन्तर हो।
नवल प्रभा से उमगे अवनी, नव-प्रभात-मय अम्बर हो ।।
अलस विलासी तन्द्रा भागे,
आशा सुस्मृति में अनुरागे,
मानव मंडल में फिर जाग्रत, नूतन जागृति का स्वर हो ।।
रवि-कर चेतन सम्बल लाये,
पथ पर प्रभु-पद - चिह्न सुहाये,
उनकी इच्छा पर चलने को, यह जीवन फिर तत्पर हो ।।
विदलित तम हो, विगलित भ्रम हो,
विचलित अंध - बंध - संक्रम हो,
ज्योतिर्वंशी हंस गणों का, मुक्त पवन में संचर हो ।।
ज्योतिर्मय उर अन्तर हो·····।।"

(२)

अ

नागरों के पास आये।
प्रात का वह मंजु-दर्शन, प्रात का पीयूष-वर्षण।
स्निग्ध नयनों मे नरों ने,
वर नये क्या क्या न पाये॥
था अभाव किसे कहे जो, कौन आकांक्षा रहे जो।
चार शब्दों में भरत के,
आप चारों फल समाये॥
देह कृशता पर चढ़ी थी, दीप्ति सुषमा पर बढ़ी थी।
राम की रट में स्वयं ही,
राम बनकर वे सुहाये॥

आ

राजा का सच्चा रूप यही।
अनुभव करते थे नागर-गण, राजा का सच्चा रूप यही।
जनता से जन सा मिलता है,
उनमें घुल मिल कर खिलता है।
कहता है 'वह तो सेवक है, श्री रामचन्द्र की सकल मही॥'
तन से तापस, मन से योगी,
पाई का भी न कभी भोगी।
धृति ने न कभी हटना सीखा, कृति ने अहं की बात कही॥
ग्रामीण श्रमिक सा आप हुआ,
सुत बन्धु स्वतः मां बाप हुआ।

दुनिया चुपचाप चली पीछे, इसने जो ईप्सित राह गही ॥
कटि पर कोपीन जटा सिर पर,
निश्चय यह जाग्रत शिव-शंकर ।
है अनासक्ति के गिरि पर यह, इस पर नय-गंगा जाग रही ॥

(३)

अ

सचिवों ने आ उनको घेरा।
पल-पल जिसका उपयोगी हो, कहाँ दोपहर कौन सवेरा ॥
आज कोष मे इतना आया,
आज विभागों ने यह पाया,
आज अमुक विषयों में इस विधि, न्यायालय ने न्याय बिखेरा ॥
जन-जन की घर-घर की बातें,
वन - वन नगर-नगर की बातें,
फिरे विपल पर पल, पर फेरा फिरा न वह बातों का फेरा ॥
अटल धैर्य से सब कुछ सुनना
और सभी बातों को गुनना,
गुनकर निर्णय पर झट आना, था यह नियम भरत का चेरा ॥
दृढ़ता उसमें, मृदुता उसमें,
परम जटिलता, ऋजुता उसमें,
कितनी प्रबल शक्तियों का था उस सूखे से तनु मे डेरा ॥

आ

राजनीति का तत्त्व यही है ॥
चालक ने जो राह बताई,
तन्त्र - यंत्र ने वही गही है ॥

चालक एक, सहायक सब हों,
यथा—योग्य—पद के अधिकारी।
रहे नियम – निष्ठा पूरी,
पर, रहे सदा सहृदयता प्यारी।
तंत्र-यंत्र वह निपट निकम्मा,
जहां न व्यापक बुद्धि रही है ॥ राज०

श्रवण नयन हरदम जागे हों,
मुख न मुखर हो आगे आगे।
अगों नगों तक वृत्ति न अपनी,
तृणों तृणों तक वह अनुरागे।
शासक क्या, जिज्ञासु न हो जो,
जिसमें धृति मति शील नहीं है ॥ राज०

पशु को नर, नर को सुर कर दे,
सुर को कर दे जग-हितकारी।
जग-हितकर सर्वाङ्ग-समुन्नति का
सबको करदे अधिकारी।
शासन वह, जो स्वर्गिक सा हो,
मानों शासित ही न मही है ॥
राजनीति का तत्व यही है ॥

६

बछियां मधु-माखी या जोंके
तीनों अपना कर लेती हैं, पर न चुभातीं दुख की नोकें ॥
बछिया वह पय लेती है, जो
बच रहता तो थन दुख पाते।
धेनु पन्हाती है उस कर से, सधते हैं सब काम सुरों के ॥

मधु माखी जल ही लेती है,
पर वह खिले हुए सुमनों से।
फूले रहते फूल और छक उठते मधु से मन मनुजों के॥
जोंक रुधिर हरती है, सच है,
पर वह दूषित रक्त हटाती।
कष्ट न देकर इस प्रकार वह, हरती विविध विकार नरों के॥
रवि ने संग्रह किया, अलक्षित
ढंग से, जगह जगह का पानी।
बरसा राजकोष वह, जिससे लहरा उठे खेत शस्यों के॥
संग्रह का है मर्म त्याग में,
समझो यह राजन्य-व्यवस्था।
आवें बीज, बढ़ें वृक्षों-से, बढ़कर कर दें दान फलों के॥

(४)

अ

भरत की यह नारी।
कल थी वधू, आज माता-सी, दिव्य देवियां हारी॥
भोजन लेकर चली माण्डवी जहाँ भरत व्रत-धारी।
जीवन-रक्षक कन्दमूल-फल, वस्त्र, सामग्री सारी॥
आई उतर तपस्या भू पर नारी बन सुकुमारी।
पर सुकुमारी अग्निशिखा थी जन-जग-पावन-कारी॥
तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियां प्यारी।
एक छत्र शासक की यह थी आधी देह दुलारी॥
दोनों एक, परन्तु बीच थी असिधारा वह भारी
चौदह वर्षों तक न भावना जिसने अन्य निहारी॥

आ

दूर ऊर्मिला का सागर था।
देह महल में रुद्ध हुई थी, पर न निरुद्ध विरह-निर्झर था।
भरीं दृगों ने जल-धाराएं, शब्द शब्द करुणा-कातर था।
किन्तु माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था॥
सम्मुख है राकेश, चकोरी पर न उधर निज नयन उठाये!
विकसी प्रभा प्रभाकर की है, पर न कमलिनी मोद मनाये!
था वसन्त आंखों के आगे, पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह! मांडवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था॥
जो हैं दूर उसी की आशा रख कर मन समझाया जाये,
समझ सराहूं मैं उस मन की, पास रहे पर पास न आये,
सलिल-विरह की बात न जिसमें, स्वतः प्यास उठना दुर्भर था।
अहह! मांडवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था॥

इ

सुख दुख से भरे महल।
मांडवी नियोजित थी कहे भरत से अविकल॥ सुख दुख से०
माताओं के दुलार, ऊर्मिला-वियोग-भार,
और स्वतः की सेवा, हरने को व्यथा सकल॥ कहे भरत से०
अन्तःपुर के प्रबन्ध दोष, की रहे न गन्ध,
सत्य-सन्ध के सन्मुख कहे सत्य जटिल सरल॥ कहे भरत से०
था भोजन एक बार, आयोजन एक बार,
एक बार दिन भर में पाती थी वह वे पल॥ हरने को व्यथा०
पर वे पल मूल्यवान; छा देते सुख वितान,
अवध नन्दिगांव मार्ग पग पग था तीर्थ विमल॥ हरने को व्यथा०

ई

वह मन का विश्राम नहीं था।

तन ने एक कुशासन खोला, मन से दूर कुशासन सारे,
मन ने भारत भाँवर फेरी, तन आसन पर आसन मारे।
तन ने दो पल की समाधि ली, पर मन को आराम नहीं था॥ वह०
शर-शय्या पर सोने वाला, किस तकिया की चाह रखेगा,
युद्ध स्थल जिसका घर, वह कब शिविका पर उत्साह रखेगा।
मन मरदाने का, सूने में निष्क्रिय होना काम नहीं था॥ वह०
अपनी ही उलझन के भीतर एक सुधा-निर्झर झरता है,
कर्मव्रती संघर्षों में ही वह जल मधुर पिया करता है।
जग समझे वह झुलस रहा है वह कहता है घाम नहीं था॥ वह०

(५)

अ

उधर दिवस ढल चला।
इधर पादुकाओं का प्रतिनिधि, यत्र तत्र बढ़ चला॥
विविध विभागों की दिनचर्या,
जन-जन-सेवा पद्धति आदर्या,
अपनी आंखों से अवलोकी अपनी शासन-कला॥
जन जन की गति-विधि पर आंखें,
नगर गांव की निधि पर आंखें,
उन जागृत आंखों से ओझल कौन बुरा या भला॥
है शत्रुघ्न पार्श्वचर जिसका,
उस अजात-रिपु को भय किसका,
जिसने उसको छलना चाहा, उसने निज को छला॥

आ

माली देख रहा फुलवारी।

ताल तमाल, चमेली बेला, चाहे हों दूर्वा के दल ही,
कौन सुमन—शीलों की बातें, कांटों तक ने पाई बारी॥ माली०

सब अपने स्थल पर सुन्दर थे, सब अपने स्थल पर उपयोगी,
एक रुचिर नक्शे में रह कर, खिली हुई थी क्यारी क्यारी॥ माली०

इसको रोपा उसको छाँटा, इसे बढ़ाया, उसे हटाया,
एक समजसता यों छा दी, एक नई सी सृष्टि सँवारी॥ माली०

भेद विभागों का यद्यपि है, रग राग हैं सबके न्यारे।
पर न्यारे-पन के एके पर, इसने स्वर्गिक छटा उतारी॥ माली०

इ

एक कुटुम्ब बना,

अवध का एक कुटुम्ब बना।

सैनिक, सचिव, सुधारक, सेवक, सुरुचि-सुयोग-सना। अवध०

शासक शासक, शासक शासित, सब सौहार्द-मना॥ अवध०

गृह का उत्तर द्वार हिमालय, दक्षिण विन्ध्य घना।
पश्चिम में नद-सिंधु गरजता, पूरब में मेहना॥ अवध०

एक केन्द्र की परिधि बढ़ी यों, सुख सुवितान तना।
आदिज अन्त्यज में समता की सत्य हुई कल्पना॥ अवध०

सधे पूर्व पश्चिम के नाके पूरी कर साधना।
वहां भरा घी घना, जहां था मिलान मुट्ठी चना॥ अवध०

ई

थे ग्राम गुण-ग्राम साकेत ही से।
तन स्वास्थ्य सम्पन्न, मन ज्ञान का धाम
गृह अन्न वस्त्रादि से पूर्ण अभिराम॥
धन था कि जनपद परार्थ-व्रती हो—
जन-सौख्य- संयुक्त श्रम और विश्राम॥
प्रत्येक परिपूर्ण कृति से कृती से॥ थे ग्राम०

क्या उच्च क्या नीच अपने पराये।
पारस्परिक सूत्र सब में समाये॥
सबने किया ग्राम को ऋद्ध इतना—
स्वायत्त स्वाराज्य से वे सुहाये॥
मानों उठे कल्पतरु हों मही से॥ थे ग्राम०

(६)

अ

राग रंग ले सन्ध्या आई।
दिवस निशा के सन्धि-काल ने,
दिव्य प्रभा अवनी पर छाई॥
गुरु-गृह चले भरत पदचारी
सत्संगति पर मति विरमाई,
तन को कुछ व्यायाम मिला, पर
मन ने पूरी शान्ति कमाई॥
सुस्थिर हुए, किया अवगाहन,
अलख ज्योति से ज्योति मिलाई,

संध्योपासन की स्थिरता में
मानस-विद्युत ने गति पाई ॥

आ

सत्संगति की अकथ कथा।
गुरु है मौन किन्तु शिष्यों की हर उठती है आप व्यथा॥
हुआ लोह चुम्बक के सन्मुख,
क्या जाने किस ओर गये दुख।
चुप है चुम्बक, लोहा कहता "मै चुम्बक था, लोह न था॥"
श्रवणामृत भी यदि मिल जाये-
कली-कली मन की खिल जाये।
दो हृदयों के सम्मेलन की मोहक मादक सभी प्रथा॥
भरत और गुरु की वे बातें,
छोटी जिनके सन्मुख रातें।
चौदह वर्षों में दोनों ने रत्न-कोष क्या क्या न मथा॥

इ

भव-विभव की इति कहाँ है?
विश्व-सागर के विवर्त्तावर्त्त मे जन-कृति कहां है?
चल रहे हैं दौर जिसके
ग्रह उपग्रह कौर जिसके,
नित्य संसृति-पाश-वाली मृत्यु की परिमिति कहां है?
अड़ी तृष्णा और आशा
बढ़ी नर नर की पिपासा,
किन्तु दे विश्रांति ऐसी बूंद की संस्थिति कहां है?

तत्त्व की अनुभूति जिसमें
दिव्य दिव्य विभूति जिसमें,
काल—अहि जिसका विभूषण, वह सदाशिव-धृति कहाँ है ?
भव विभव......॥

६

जीवन को किसने पहिचाना ?
युद्ध जहां है जीवित रहना और संधि ही है मर जाना॥
जीवन है श्वासा का नर्त्तन,
सुख दुख नर्त्तन के आवर्त्तन।
महाकाल की तालों पर ही निर्भर जिसका आना जाना॥
जीवन........?
जीवन है लहरों का मेला,
राग द्वेष है जिनसे खेला।
और जगत् क्या ? उन लहरों का उठना, मिटना या इतराना॥
जीवन........?
जीवन कुछ फूलों की लीला
जीवन कुछ शूलों की लीला।
इन फूलों शूलों मे छिपकर, बैठा जीवन-प्राण अजाना॥
जीवन........?
वीणा अपनी स्वर उस प्रभु के,
उड़ना अपना, पर उस प्रभु के।
नर का जो अपना जीवन-पट उसमे उसका ताना बाना॥
जीवन........?

चलता नीचे-नीचे जीवन,
ढलता नीचे-नीचे जीवन।
यदि न भगीरथ राह सँभाले, दुष्कर है गगा बन जाना ॥
जीवन ·······

उ

जीवन उड़ती सी बात न हो, जीवन हो लोहे का पानी।
बाते बातों मे बीतेंगी,
ससार-समर कब जीतेंगी।
बढ़ कर ही लोहे ने पाई, जय की मालाएं मनमानी।
पत्थर के डर से कब निर्झर,
सोया चिन्ताओं में घिर कर।
अपना पथ अपने पैरों ही गढ़ने में अपनी गति जानी।
आंखों के सन्मुख ध्येय रहे,
पर, कृति के द्वारा गेय रहे।
यह ध्येय गेय की तत्व-प्रथा, है खूब जलद ने पहिचानी।
जीवन उड़ती सी०

ऊ

सब स्वतन्त्र सब समृद्ध।
निज उन्नति मे सब ही रहें रूढ़ि से अविद्ध।
किन्तु अन्य-जन्य अन्न पर न झपट बनें गृद्ध ॥
एक ताल पर बढ़ चल ध्येय लहें बाल-वृद्ध।
एक ध्वजा, एक छत्र, एक स्वीय राज्य ऋद्ध ॥
विश्व की मनुष्य-जाति एक हो प्रभाव-इद्ध।
सिद्ध करें जग-विमुक्ति भारतीयता प्रसिद्ध ॥
सब स्वतंत्र सब समृद्ध ॥

(७)

अ

भीगी रात चरों ने घेरा।
इसने कहीं पूर्व की बातें, उसने पश्चिम-वृत्त बिखेरा॥
बाणासुर ने किससे मिलकर, कौन कौन रायें ठहराईं।
पारस पार सुमेरु द्वार तक, कौन पछाहीं कृतियां छाईं॥
उत्तर में किन्नर गण किसविधि, नरता तज कर सुरता-चेरा॥
भीगी रात·· ·· ··।
कहीं एक ने जो जो बातें, हुईं समर्थित वे औरों से,
गुप्तचरों के दल पर दल थे, अलख परस्पर थे औरों से।
पर सब ने जब सत्य बखाना, तब पड़ता उसमें क्या फेरा॥
भीगी रात ····· ··।

आ

कहो न दक्षिण—कथा।
प्रभु ने जो मर्यादा बांधी वह अटूट सर्वथा॥
किम्वदन्तियों में क्या दम है,
प्रभु में शक्ति कौन सी कम है।
वहां न जाओ, जाओगे तो होगी मुझको व्यथा॥
उनके सुख दुख, उनकी लीला।
उनकी गति में क्षिति गति-शीला।
वे जब चाहें अवध उसी पल उन चरणों में नथा॥
कहो न दक्षिण-कथा।

(८)

अ

कुछ घड़ियों की रात रही है।
जग में उसका सोना कैसा जिसने श्रान्ति सशान्ति सही है॥
कभी जागरण कभी पर्यटन,
कभी नगर - शासन - दिग्दर्शन।
कभी प्रखर प्रहरों का प्रहरी, लक्ष्मण सी गति आप गही है॥
क्रम-क्रम से अवयव सब सोयें,
एक साथ क्यों चेतन खोयें।
व्रतधारी के व्रत के आगे सकल देह-दीनता दही है॥
जग सोया वह जाग रहा है,
जाग देश का भाग रहा है।
उसके कधों भार सौंपकर सुख-सपनों में मग्न मही है॥

आ

नभ पर आभा छाई।
एक रात ऐसी घड़ियों में, नभ पर आभा छाई॥
रजनी के इस विषम प्रहर में. यह कैसी अरुणाई?
किस उल्का ने उत्तर में है अपनी ज्योति जगाई?
नभ पर·······॥
उल्का नहीं, दैत्य सा कोई कर में लेकर ज्वाला—
भाग रहा उत्तर से दक्षिण जैसे मन मतवाला।
दक्षिण-पथ में कौन अदक्षिण माया मरने धाई?
नभ पर·······॥

मारा बाण, गिरे मारुत-सुत, "राम !" यही, बस, बोले,
एक बोल ने किन्तु भरत के लाखों भाव टटोले।
कल न मिली जब तक वह जागृति फिर से लौट न आई॥

नभ पर·····॥

६

"प्रभु सन्मुख हैं कहां लखन हैं?
कहाँ सुकठ विभीषण अंगद,
कहाँ सुषेण सदृश् सज्जन हैं? प्रभु०·····।

संजीवन वह पड़ी हुई है
अप्रिय क्यों अब ये साधन हैं? प्रभु०·····।

नाथ! परिस्थिति है यह कैसी—
अंगों में क्यों विषम जलन है? प्रभु०·····।"

सुन, संजीवन रख दी तन पर,
परिचय दिया, दुखित अति मन है।
जिसकी वस्तु उसे देकर भी—
भरत हो गये जीवन-धन हैं॥
मारुति के वे जीवन धन हैं॥
मारे वही, जिलाये वह ही,
विधि-गति के अनुपम बंधन हैं।
मृत्यु सदृश् तीखे जो पल में-
वे अब जीवन के जीवन हैं।

भरत हो गये०·····॥

६

स्वस्थ हुए तब हनूमान ने राम-कथा इस भांति सुनाई।
"जिसने कुल की नाक कटाई,
जिसके कानों सीख न भाई।
उस नारी ने नाक-कान खो, लंका-जय की राह बताई॥
छल साधा जग-विद्रावण ने,
सीता-हरण किया रावण ने।
अनायास इस भांति रचाई राम और सुग्रीव मिताई॥
किष्किंधा - गृह - कलह बचाने,
छिप कर प्रभु ने शर सधाने।
उत्तर-दक्षिण एक बनाने वालि रूप आपत्ति हटाई।
खोज मिली सीता की ज्यों ही,
लंका-दहन हो गया त्यों ही।
धाक उड़ी रावण की जग से, दनुज-कुलों में फूट समाई॥
न्याय विभीषण को यों भाया,
प्रभु की शरण आप वह आया।
भारत लंका बीच संधि सी सिंधु-सेतु की छवि लहराई॥
मनुज दनुज आराध्य एक है,
संस्कृतियों का साध्य एक है।
यही दिखाने सागर-तट पर महा-देव की मूर्त्ति बनाई॥
हम जैसे वानर लोगों से,
मानस-विद्युत के योगों से।
लंका की भौतिक विद्युत पर भांति भांति की विजय दिलाई॥
किन्तु देह भौतिक थी आखिर,
आकस्मिक दैत्यास्त्रों से घिर
संजीवन-इच्छुक सगर में, मूर्च्छित पड़ा लखन सा भाई॥"

भरत हुए विह्वल यह सुन कर,
कहा "बढ़ो इस शर पर चढ़ कर।
पल में मंत्र सदृश लंका तक पहुंचा देगा शर सुखदाई॥"
मारुति बोले "धन्य हुआ मैं—
स्वस्थ हुआ, लो, स्वयं बढ़ा मै।"
लघिमा की लघु योग-सिद्धि ने मन-सी मारुति-देह उड़ाई॥

उ

सेवा-पथ महा अगम।
कौन तत्व निहित, हुई जिससे यह भूल विषम॥
निरपराध जीव गिरा!
अब तक न पशुत्व फिरा॥
कौन पाप उदित, हुई जिससे यह बुद्धि अधम॥
दक्षिण के मिले हाल
पर वे कितने कराल!
इधर प्रभु—निदेश, उधर गमनातुर हृदय परम॥
बाण चला जो सन्मुख
दिया आह! दुहरा दुख।
सहन कर विमूढ़ चित्त! निज कृति की क्षति अक्षम॥
सहन सहन सहन आह!
असहनीय हृदय—दाह!
जाऊंगा मैं लंका, भूल रहे क्रम अक्रम॥
भूल रही राह आह!
तम सन्मुख है अथाह।
त्राण नाथ! त्राण; पड़े प्राण अनल में दुर्दम॥

ऊ

गुरु वशिष्ठ उस ही क्षण आये।
मानस-विद्युत के लाघव से, जब कि भरत नभ पर मड़राये ॥
रोका उन्हें और गुरु बोले, "दिव्य दृष्टि देता हूं देखो।
प्रभु की आज्ञा को मत टालो, लो आसन्न भविष्य सरेखो।
चल-चित्रों-से सन्मुख आये, लका-जय के चित्र सुहाये ॥
"मानव-मन कितना परिमित है आज ज्ञान का दर्शन पाया।
'प्रभु-इच्छा ही नर की कृति हो' इसमें दर्शन-सार समाया।"
बोले भरत, "मूढ़ता मेरी, वे आदेश न जो निभ पाये ॥
एक ताप ने चौदह वर्षों इस तनु को तप आप तपाया,
अपर ताप जो आज उठ पड़ा, उसने अब सकल्प कराया—
"आजीवन दृढ सेवा-व्रत से चित्त न डोले, मति न डुलाये ॥"
गुरु वशिष्ठ उस ही क्षण आये।

ऋ

आठों यामों की कुछ झांकी ॥
जिसे सबल कवि ही लख पाये,
अबल लेखनी ने वह आंकी ॥
किस विधि चरित-समुद्र समाये,
पाकर इन शब्दों की टांकी ॥
आठों यामों की कुछ झांकी।

❀ ❀ ❀ ❀

रोते-गाते अष्ट याम इस ही विध बीते
दिवस - मास - मय - वर्ष भरत ने सहकर जीते।

बीते चौदह साल काल सुख-दायक आया,
जिसने प्रभु से इन्हे पलों में आप मिलाया॥

मारुति ने आ इन्हें मधुर सन्देश सुनाया,
क्षितिज छोर पर सरस राम-दल-बादल आया।
ऊष्मा से ये बढ़े अमृत - जीवन पाने को,
वे बूंदें ले सीस, स्वतः ही तर जाने को॥

हुआ मनोज्ञ मिलापः राम में भरत समाये,
छूटा नन्दिग्राम अवध फिर से सब आये।
अंग अंग नव राग रंग से घिरा अवध का,
चौदह वर्षों बाद भाग्य फिर फिरा अवध का॥

माताए मुनिवर मंत्रीगण और सभी पुरजन परिजन,
जनक-युधाजित्-से सम्बन्धी देश विदेशों के सज्जन।
राम-दर्शनातुर आये जो, सबने शुभ दर्शन पाये,
दक्षिण उत्तर के वीरों के सम्मेलन वे मन भाये॥

राम राज्य के महल, बनेंगे, जिन अति अविचल नीवों पर,
अथक भाव से चौदह वर्षों तक चुपचाप इन्हें रच कर।
प्रभु-चरणों में अर्पित कर दी ब्याज सहित सारी थाती,
आज भरत की पराशान्ति में शांति स्वयं सिमटी जाती॥

सुखी-जीवन का सुख है शान्ति;
जगत्-संघर्ष न दे यदि कान्ति।
मनुजता के आदर्श ज्वलन्त!
धन्य साकेत - पुरी के सन्त!!

* * * *

उपसंहार

बाहर उत्सव-कोलाहल थे,
किन्तु भरत थे वहाँ कहाँ?
गये अलक्षित स्वीय भवन वे,
तपस्विनी माण्डवी जहाँ।
उन दोनों का वह सम्मेलन,
अपने उर मे चित्रित कर।
चित्र-काव्य सा आप बन गया,
आकर्षक पत्थर का घर ॥१॥

जो 'मदीय' बन इसी भवन में,
'अस्मदीय' के रूप रहा।
वही प्रेम, प्रभु में अर्पित हो,
कान्त 'त्वदीय' अनूप रहा।
प्रभु ने किया उसे जग-विस्तृत,
तब 'तदीय' बन वह भाया।
पति कब यह विकास पा सकता,
साथ न देती यदि जाया ॥२॥

बाह्य बीन का काम न था अब,
जाग्रत हृदय-बीन-स्वर था।
अब न हिमालय की इच्छा थी,
स्वतः हिमालय सा घर था।

श्रद्धा समाधान की, ऐसी
विमल ज्योति से ज्योति मिली।
दोनों से कर प्राप्त पूर्णता,
मानवता की मूर्त्ति खिली ॥३॥

ठेस न लगती यदि कलंक की,
खिलता कहां प्रेम अभिराम।
प्रेम-पात्र कब प्रभु हो मिलता—
सरस भक्ति बनता कब काम।
कैकेयी के जिस कटु वर ने,
महत् चरित यह किया प्रदान।
शाप रहा हो कुछ को, पर वह
जग के हेतु हुआ वरदान ॥४॥

❀ ❀ ❀ ❀

❀ समाप्त ❀